सूक्ष्मशरीरधारिभ्यउत्पत्तिः । अर्थाद्देहधारिणां प्रधानतया द्वौ भेदौ स्तः—स्थूलाः सूक्ष्माश्च य इन्द्रियाणां गोचरीभूतास्ते स्थूला मशकादिपर्यन्ताः । ततोऽन्येऽतीन्द्रियाः सूक्ष्माः । यद्यपि मशकादयः केषांचिदपेक्षया सूक्ष्मा वक्तुं शक्यन्ते तथापि मर्यादा कार्येति मत्वाऽतीन्द्रियाणामेव प्राधान्यतया सूक्ष्मत्वमङ्गीकार्यम् । सूक्ष्मं कारणं स्थूलं कार्यमित्यपि न्यायतः सिद्धं प्रसिद्धं च । एवं च येषां स्थूलप्राणिनां गोमयादावुत्पन्नानां वृश्चिकादीनां स्थूलाः शरीरिणः संयोगेनोत्पादकाः कारणभूता न दृश्यन्ते तत्र गोमयादिष्ववस्थितेभ्यो विषमयसूक्ष्मातीन्द्रियशरीरधारिभ्यः कारणभूतजन्तुभ्यस्तेषामुत्पत्तिरित्यनुमानेनैवावगम्यते नहि जड़कारणमात्राच्चेतनस्योत्पत्तिः शक्या विज्ञातुम् । इत्थमेव कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टइति वैशेषिककारस्य कथनं सम्बध्यते कार्यकारणयोः सारूप्यमिति नैयायिकानां च । यद्यपि मनुष्यादिप्राणिनां शरीराणि पार्थिवानि पाञ्चभौतिकानि वा सन्ति तस्मात्तेषां पृथिव्यादि जड़मेवोपादानकारणम् । तथापि चेतनाविशिष्टशरीरेभ्य एव चेतनाविशिष्टानां प्राणिनिकायानामुत्पत्तिरिति कार्यकारणयोः सारूप्यम् । एवं गोमयादिजड़कारणमात्राद्यदि वृश्चिकादीनामुत्पत्तिस्तर्हि वृश्चिकादयोऽपि जड़ा एव भवेयुः । नहि जडे दुग्धे विकृते चेतनं दधि भवति । मृत्स्नातो वा चेतनं घटादिकं प्रादुर्भवति । तद्वदिहापि विचार्यम् । यत्र प्रत्यक्षतया कारणे तादृशो गुणो न दृश्यते कार्ये तु दृश्येत तत्र कारणे तस्य गुणस्य सूक्ष्मत्वमतीन्द्रियत्वं चानुमेयम् । एतेन चेतनसूक्ष्मशरीरधारिभ्यस्तादृशेभ्यएव दंशमशकवृश्चिकादीनामुत्पत्तिरित्युक्तं भवति ॥

एते दंशमशकादयः स्वेदजा उष्णजा वा इति यच्छास्त्रविद्भिरभिधीयते तत्तु तेषामण्डजादित्वजरायुजादित्ववदस्तीत्यवगन्तव्यम् ।

तथाऽण्डजा जरायुजाश्च प्राणिनश्चेतनाविशिष्टस्त्रीपुरुषसंयोगमन्तरेण न केवलादण्डान्न च जरायुमात्रादुत्पद्यन्ते किन्तु यत्र शुक्रशोणितसंयोगेन गर्भः शरीराकृतिमापद्यते सा सूक्ष्मा चर्माकृतिर्जरायुरित्युच्यते तस्माज्जरायुतो जायते जरायुभेदात्प्रविभक्तावयवमपत्यं दृष्टिपथमागच्छति। तथाचाण्डाकारस्य मध्ये गर्भो भूत्वा पूर्णाङ्गः सन्नण्डच्छेदाज्जातो जन्तुरण्डजः। नहि स्त्रीपुरुषयोः संयोगमन्तरेण जाताइति। तथैवात्रापि स्वेदजाः प्राणिनः स्वेदविशेषकारणात्सद्यः प्रकटतामापद्यन्ते। उष्णाधिक्यमेव शक्तिद्वयस्य संयोगेऽपि कारणम्। सूक्ष्मदेहधारिणां शक्तिद्वयविशिष्टानां जन्तूनां संयोगानन्तरमुष्णविशेषाच्छीघ्रतरं वृद्धिं गताः प्राणिनो दृश्यन्ते इति तेषां स्वेदजत्वमुष्णजत्वं वास्ति। नहि सूक्ष्माएव जन्तवः स्थूलत्वमापद्यन्ते किन्तु सूक्ष्मेभ्यः स्थूला उत्पद्यन्ते। यदि कश्चिद्देयादृशप्राणिशरीरात्कश्चिदुत्पद्यते। स तादृशएव सूक्ष्मः स्थूलो वा भवति। नहि मशकशरीरात्ततः स्थूलाः प्राणिन उत्पद्यन्ते। अस्येदमुत्तरं बोध्यम्। यथा स्थूलप्राणिनां मैथुनसंयोगेन शुक्रशोणितावेकीभूत्वा गर्भे प्राणिन उत्पद्यन्ते न तथा सूक्ष्मप्राणिनां मैथुनसंयोगेन क्वापि वीर्यादिकं चरति। किन्तु यत्स्वेदजप्राणिनिकायानां सूक्ष्ममुपादानकारणं तत्र स्त्रीत्वं पुंस्त्वं च शक्तिद्वयं तच्च चेतनाशक्तिविशिष्टं तस्यैव संयोगेन तेषामुत्पत्तिरिति कार्यकारणयोः सारूप्यम्। सिद्धमनेन स्वेदजोद्भिज्जा अपि मैथुनीसृष्टावन्तर्गताइति॥

भाषार्थः—तथा सृष्टि में विचारशील पुरुषों को दो ही भेद निश्चित जानने चाहिये। एक मानवी वा मानसी सृष्टि अथवा ऐश्वरी सृष्टि और दूसरी मैथुनी वा मानुषी सृष्टि कहाती है। इन में पहिली मानवी सृष्टि कल्प के आरम्भ में ही होती है तथा दूसरे प्रकार की सृष्टि उत्पत्ति होने के पश्चात् जगत् की

स्थिति दशा रहने पर्य्यन्त सदा प्रतिदिन वा प्रतिक्षण होती है। उन में स्थूल कारण की अपेक्षा को छोड़ कर प्रलय के पश्चात् सृष्टि के आरम्भ में विचार वा मनन शक्ति का आश्रय लेकर मनु नामक परमेश्वर ने उत्पन्न की इससे मानवी सृष्टि कहाती है। मन नाम विचार के आश्रय से ही सूक्ष्म कारण से की गयी किन्तु स्थूल शरीरादि का आश्रय रखने वाले कर्म से नहीं इस लिये प्रारम्भ की सृष्टि मानसी भी कही जाती है। सर्व शक्तिमान् ईश्वर ही उस सृष्टि को कर सकता है किन्तु कोई साधारण पुरुष नहीं इस लिये उसको ऐश्वरी सृष्टि भी कहते हैं और वह सृष्टि स्थूल स्त्री पुरुष के संयोग के विना ही उत्पन्न होती उस समय उन प्राणियों का माता पिता वही एक परमेश्वर है। परम सूक्ष्म कारण से पृथिव्यादि स्थूल भूतों की और स्थूल बीज के विना वृक्ष ओषधि और वनस्पति आदि की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार की जिस को कोई देहधारी मनुष्य नहीं बना सकता वही ऐश्वरी सृष्टि है। और जब उस ने स्त्री पुरुष बीज वृक्ष आदि एक वार प्रारम्भ में उत्पन्न कर पीछे इस प्रकार सब को सृष्टि की परम्परा चलानी चाहिये ऐसा वेद द्वारा उपदेश किया तब से लेकर मनुष्य लोग वैसे ही अपने२ योग्य सृष्टि बनाते आते हैं। पुत्रादि का उत्पन्न करना वृक्षादि का लगाना और घड़ा वस्त्र वा मकान आदि का बनाना इत्यादि सृष्टि मनुष्यों की ओर से प्रतिदिन होती है यही सब मानुषी वा मैथुनी सृष्टि है। उन सब स्थावर वृक्षादि और जङ्गम मनुष्यादि चेतन प्राणियों की उत्पत्ति में चार ही मुख्य कारण हैं—जैसे शुश्रुत में लिखा है कि ऋतुसमय, क्षेत्र—खेत, जल और बीज इन चार प्रकार की सामग्रियों के संयोग से जैसे वृक्षादि का अङ्कुर उत्पन्न होता है वैसे यही चार प्रकार की सामग्री संयुक्त हो कर मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इन में स्थावर की उत्पत्ति मनुष्य की इच्छानुसार तथा स्वतन्त्र अकस्मात् भी होती है पर जहां स्वतन्त्र होती वहां भी मैथुन रूप कारण अवश्य मानने पड़ता है और मनुष्यादि की उत्पत्ति विना इच्छा पूर्वक मैथुन संयोग के नहीं होती यह विषय शुश्रुत के शारीरस्थान में लिखा है। पूर्वोक्त समय आदि का एकत्र संयुक्त होना ही मैथुन कर्म है उस से उत्पन्न हुई सृष्टि मैथुनी कहाती है। केवल स्त्री पुरुषों के संयोगमात्र का नाम मैथुन नहीं है किन्तु किसी प्रकार स्त्रीशक्ति और पुरुष शक्ति का संयोग होना मैथुन कहाता है। सो इस प्रकार का मैथुन सब वस्तुओं की उत्पत्ति में होता ही है इसी से

पीछे उत्पन्न होने वाली सब सृष्टि मैथुनी होती है। इस से जुआं मक्खी खटमल आदि और वृक्ष ओषधि वनस्पति आदि की भी मैथुन पूर्वक ही सृष्टि होती है यह सिद्धान्त ठहरता है। बीज पुरुष और पृथिवी स्त्री उन दोनों का संयोग होना मैथुन कर्म और इस मैथुन से उत्पन्न होने वाले वृक्षादि मैथुनी सृष्टि में कहाते हैं। जुआं मक्खी खटमल आदि की सूक्ष्म शरीरधारी सूक्ष्म जीवों से उत्पत्ति होती है। अर्थात् देहधारियों के मुख्यकर दो भेद हैं एक स्थूल और द्वितीय सूक्ष्म। जो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होते वे स्थूल मशक—मच्छर पर्यन्त हैं। इन से भिन्न अतीन्द्रिय—इन्द्रियों से न दीख पड़ने वाले सूक्ष्म कहाते हैं। यद्यपि मच्छर आदि को किन्हीं की अपेक्षा से सूक्ष्म कह सकते हैं तो भी सूक्ष्मता वा स्थूलता की अवधि करनी चाहिये ऐसा मानकर इन्द्रियों से न दीख पड़ने वालों को ही मुख्यकर सूक्ष्म मानना चाहिये। सूक्ष्म कारण और स्थूल कार्य होता वा माना जाता है यह भी न्याय से सिद्ध और सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसी प्रकार जिन गोबर आदि में उत्पन्न हुए वृश्चिक आदि स्थूल प्राणियों को संयोग से उत्पन्न करने वाले स्थूल शरीरधारी कारणरूप नहीं दीखते वहां गोबर आदि में रहने वाले विषरूप सूक्ष्म अतीन्द्रिय शरीरधारी कारणस्वरूप जन्तु अर्थात् चेतनतायुक्त जड़ कारण से उन वृश्चिक आदि की उत्पत्ति होती है यह अनुमान से ही निश्चित होता है। जड़ कारणमात्र से चेतन की उत्पत्ति हो सकती हो यह नहीं मान सकते। इसी प्रकार कारण का गुण कार्य में आता है अर्थात् जो गुण कार्य में दीख पड़े उस का होना कारण में अवश्य मानने पड़ता है। यह वैशेषिकशास्त्र का सिद्धान्त है सो भी ठीक घट जाता है। तथा कार्य कारण की एकरूपता होती वा माननी चाहिये यह न्यायशास्त्र का सिद्धान्त भी पूर्वोक्तप्रकार मानने से ठीक बन सकता है।

यद्यपि मनुष्यादि प्राणियों के शरीर पृथिवी के वा किन्हीं के मतानुसार पञ्चभूतों से बनते हैं इस लिये उन शरीरों का पृथिव्यादि जड़ ही उपादान कारण है तो भी चेतनता विशिष्ट शरीरों से ही प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति होती है इस से कार्य कारण के साधर्म्य में कोई दोष नहीं आसकता इस प्रकार गोबर आदि जड़ कारण मात्र से यदि वृश्चिक (बीछू) आदि जन्तुओं की उत्पत्ति मानी जावे तो बीछू आदि भी जड़ होने चाहिये। क्योंकि जड़ दूध के विकृत होने पर पदार्थान्तर दही चेतन नहीं बनता अथवा प्रशस्त मट्टी से चेतन घड़ादि नहीं उत्पन्न होते किन्तु दूध से दही तथा मट्टी से घट आदि जड़ से

जड़ ही उत्पन्न होते हैं। वैसे यहां भी विचारना चाहिये कि जहां प्रत्यक्षता से कारण में वैसा गुण नहीं दीखता और कार्य में दीखे तो वहां कारण में उस गुण का सूक्ष्म वा अतीन्द्रिय होना अनुमान से जानना चाहिये। इस से चेतन सूक्ष्म शरीरधारी वैसे ही जन्तुओं से डांश मच्छर और बीछू आदि की उत्पत्ति होती है यह सिद्ध हो गया ॥

ये डांश मच्छर आदि स्वेदज वा उष्णज अर्थात् गरमी से उत्पन्न होने वाले हैं ऐसा जो शास्त्रज्ञ लोग कहते हैं सो वह स्वेदज होनारूप गुण वा धर्म उन जीवों में अण्डज वा जरायुज होने आदि के तुल्य है ऐसा जानना चाहिये। जैसे अण्डज वा जरायुज कोई प्राणी चेतनता युक्त स्त्री पुरुष के संयोग हुए विना केवल अण्डा वा जरायुमात्र से उत्पन्न नहीं होता किन्तु जिस के भीतर वीर्य और स्त्री के आर्त्तव रुधिर के संयोग से गर्भ शरीराकार बनता है वह सूक्ष्म पतले चर्म के तुल्य जरायु कहाता है उस जरायु अर्थात् जरायु के फट जाने से प्रसिद्ध अवयवों वाला सन्तान दृष्टि के सामने आता है तथा अण्डाकार के बीच उन्हीं रज वीर्य के संयोग से गर्भ हो कर पूर्ण अङ्गों वाला हुआ, अण्डे के छी जाने से उत्पन्न हुआ जन्तु अण्डज कहाता है (प्रायः जरायुज मनुष्यादि का जरायु बाहर निकलने से पहिले फट जाता है तब बाहर निकले बच्चे के हाथ पग आदि अङ्ग स्पष्ट दीख पड़ते हैं। कभी २ कोई बालक जरायु में लपटे हुए ही उत्पन्न हो जाते हैं उन के हाथ पग आदि अङ्ग बाहर निकल आने पर भी स्पष्ट पृथक् २ नहीं दीखते वैसे ही गोलाकार जान पड़ते हैं और जब तक चक्कू आदि से (उझग्या) नहीं फाड़ी जाती जब तक वे बच्चे रोते भी नहीं ऐसी दशा में रात्रि के समय कभी२ स्त्रियों को भ्रम हो जाता है कि यह क्या उत्पन्न हुआ ?। जब अण्डज प्राणियों का मैथुन संयोग होता है तब गर्भाशय में रजवीर्य के संयोग से अण्डा बनता वह कुछ दिन गर्भाशय में रह कर वस्त्रों के समान बाहर निकलता है। अण्डा वाले प्राणी पक्षिणी आदि उन की बाहर भी रक्षा रखते पीछे जब अण्डा पक जाता है तब उस में से सर्वाङ्ग पूर्ण बच्चा निकलता है) किन्तु स्त्री पुरुष के संयोग हुए विना उत्पन्न हुए प्राणी अण्डज वा जरायुज नहीं कहाते। इसी प्रकार यहां भी स्वेदज प्राणी उष्ण विशेष के कारण से शीघ्र प्रकट हो जाते हैं। उष्ण—गरमी की अधिकता ही स्त्री पुरुषरूप दो शक्तियों के संयुक्त होने में भी कारण है। दोनों प्रकार की शक्तिवाले सूक्ष्म देहधारी जन्तुओं

का संयोग हुए पीछे गर्मी की अधिकता से अतिशीघ्र वृद्धि को प्राप्त हुए प्राणी दीखते हैं इस लिये वे स्वेदज वा उष्माज कहाते हैं (उष्णता की अधिकता से प्राणियों के शरीरों की बहुत शीघ्र वृद्धि होती है सो यह पदार्थ विद्या से भी प्रसिद्ध है । जब आम्र के बीज में अधिक गर्म्मी किसी प्रकार पहुंचाते हैं तभी थोड़ी गीली मट्टी और जल में गोठली धर के तत्काल वृक्ष की उत्पत्ति और पत्ते भी लग जाते और वृक्ष सूख जाता है। तथा उष्णता जिन प्रान्तों में अधिक है वहां स्त्रियों में कामासक्ति के चिन्ह स्तन आदि शीघ्र निकलते उन की युवावस्था भी शीघ्र आ जाती है और शीत प्रदेशों में इस की अपेक्षा पीछे आती है इसी प्रकार उष्ण की अधिकता से क्षुद्र जन्तुओं के शरीर शीघ्र दृष्टिगोचर होते हैं इस लिये उन को स्वेदज वा उष्माज कहते हैं) तथा सूक्ष्म शरीरधारी स्थूल नहीं हो जाते किन्तु सूक्ष्मों से स्थूल उत्पन्न होते हैं यदि कोई कहे कि जैसे प्राणियों के शरीर से कोई उत्पन्न होता है वह वैसा ही सूक्ष्म वा स्थूल होता वा बड़ा छोटा होता है किन्तु मच्छर के शरीर से उस से बड़े २ प्राणी नहीं उत्पन्न होते न शृगाल से हाथी हों । इस का उत्तर यह है कि जैसे स्थूलप्राणियों के मैथुन संयोग होने से रज वीर्य इकट्ठे हो कर गर्भ में प्राणी उत्पन्न होते हैं वैसे सूक्ष्म प्राणियों के मैथुन संयोग से वीर्यादिक कहीं नहीं निकलता किन्तु जो स्वेदज प्राणियों के शरीरों का सूक्ष्म उपादानकारण है उस में स्त्री और पुरुष की दोनों शक्ति रहती हैं और वह शक्ति चेतनता शक्ति से युक्त होती है उसी शक्ति के संयोग से और उष्णता के बढ़ने से उन स्वेदज प्राणियों की उत्पत्ति होती है । परन्तु वह उपादानकारणरूप दो प्रकार की शक्ति चेतनता युक्त होने से चेतन कहाती है इसी कारण केवल जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं मानी जाती और उस चेतन शक्ति को सूक्ष्म जीव भी कह सकते हैं इसी से कार्य कारण की अनुकूलता वा एकरूपता बनती है । अब इस कथन से सिद्ध हो गया कि स्वेदज और उद्भिज्ज जीव भी मैथुनी सृष्टि के अन्तर्गत हैं ॥

अथोत्पत्तिक्रमं वक्ष्यामः ।

किमादौ जडमुत्पद्यते चेतनं वा चेतनेषु च मनुष्याः पशुपक्षिकीटपतङ्गादयो वा, के प्रथममुत्पद्यन्ते ? । तथा तत्त्वेष्वाकाशस्योत्पत्तिः कथं सम्भवति । इत्याद्याः शतशो विप्रतिपत्तयः सृष्टिप्रक्रि-

यायां सन्ति तासां प्रतीकाराय समासत इदमुच्यते—आदौ जड़मुत्पद्यते नतु चेतनाः । जडेषु पृथिव्यादिभूतसर्गानन्तरमोषध्यादयो मनुष्यभक्ष्याः पदार्थास्तदनन्तरं मनुष्यादिजङ्गमानामुत्पत्तिरिति सर्वसम्मतः क्रमोऽनुसन्धेयः । एवं मत्वैव—तस्माद्वाएतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्याओषधयः । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुषः । इति तैत्तिरीयोपनिषदि । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियमित्यादिसांख्ये । इत्यादिप्रमाणैः स्पष्टं प्रतीयते—आकाशादिक्रमेणाजड़तत्त्वान्यादावुत्पद्यन्ते । असत्सु चाधारभूतेषु तत्त्वेषूत्पद्यमानाः प्राणिनः किमाधारास्तिष्ठेयुः किंचभुक्त्वा जीवेयुरिति । प्राणिनिकायानां च कारणानि पृथिव्यादीनि तत्त्वानि तेषामुत्पत्तिमन्तरेण नैव प्राणिशरीराण्युत्पद्यन्ते नहि कारणेन विना कार्यमुत्पद्यतेऽतः सर्ववस्तूनां कारणभूतानि द्रव्याणि पूर्वमुत्पद्यन्ते पश्चात्कार्यरूपाणि । सूक्ष्मान्तिमकारणापेक्षयातन्मात्रादिसूक्ष्मभूतानां यद्यपि कार्यत्वमेवास्ति तथापि स्थूलभूतापेक्षया तेषां कारणत्वमेवास्ति । यद्यपि कार्यरूपोऽग्निर्वायोः कार्यम् । तथापि तस्य जलोत्पत्त्यपेक्षया कारणत्वमेवास्ति । एवं कार्यकारणव्यवस्थासापेक्षाऽस्ति ।

सर्गारम्भे पूर्वं प्रकाशउत्पद्यते तदा च तुरीयावस्थारूपान्निर्बीजसमाधितः सृष्टिं कर्त्तुमुद्युक्तरूपेण परमात्मा बुध्यते तस्य बोधनमेव प्रकाशस्योत्पत्तिः । नैव तं कोऽपि बोधयत्यपि तु स स्वयमेव बुध्यतेऽतएव तस्य स्वयम्भूरिति नाम जायते । तदेव षष्ठश्लोके प्रादुरासीत्तमोनुद इत्यादिनोक्तम् । द्वितीयावस्थायामाकाशउत्पद्यते

यश्च सर्ववस्त्वाधारो यत्र सूर्यादिज्योतींषि नियमेन तपन्ति भ्रमन्ति भ्राजन्ते च । तस्य चावकाशदातृत्वस्वरूपत्वान्नित्यत्वं वक्तुमुचितं पुनः किमर्थमुत्पत्तिः प्रदर्श्यते । अत्रोच्यते—नहि घटादिवदाकाश उत्पद्यते । यदि कथंचित्तैजसवस्तूनामभावात्सर्वथाऽन्धकारः स्यात् कोऽपि क्वापि गन्तुमपि न शक्नुयात् । तर्हि सत्यप्यवकाशे कार्यसिद्धेरहेतुत्वेन तस्याभावइव वक्तुं शक्यते प्रकाशे च सति कार्यहेतुत्वादुत्पद्यतइति व्यवह्रियते । इत्थमेवाकाशशब्दः काशृदीप्तावित्यस्माद्धातोर्यौगिकः परमात्मनो नामास्ति । योगरूढदशायां शब्दगुणकतत्त्वस्य च । तथा सति समन्तात्काशतइत्याकाशः सर्वविधप्रकाशस्याधारः । एतेन सूर्यादिज्योतिषां प्रकाशेन विरहस्य प्रलयदशायां तमःस्वरूपस्याकाशइति संज्ञा न वक्तुं शक्यतेऽतएवाकाशो नास्तीति व्यवहारः कर्त्तुं शक्यते । सर्गारम्भे च । पुनर्व्यवह्रियते । इयमपि तस्योत्पत्तिः । तथाऽनन्तश्चावकाशोऽस्ति यत्र सृष्टिर्नास्ति तत्रापि शून्यमेवास्ति तत्र यावति शून्ये ब्रह्माण्डं निर्मितं तस्याकाशसंज्ञा सर्गारम्भे धृता ब्रह्माण्डस्थमेव शून्यं प्रकाशयुक्तं भवति सूर्यादिज्योतिषां तत्रैव सत्वात् । अतस्तस्याकाशत्वं नान्यशून्यस्येत्ययमप्याकाशोत्पत्तिकथनस्याशयः । इत्थमाकाश उत्पद्यते न तु घटादिवत् । आकाशस्य शब्दो गुणस्तत्र च शब्दस्योत्पत्तौ वायुरपि सहयोगि कारणम् । तथाप्याकाशस्तस्य मूलं कारणम् । संयोगविभागजश्च शब्दः संयोगविभागौ चावकाशे सत्येव भवितुमर्हतइत्याकाशस्य प्रधानकारणत्वम् । तच्च शब्दगुणकत्वं प्रलयदशायां न सम्भवतीति मत्वा सर्गारम्भे शब्दाश्रयत्वादाकाशोत्पत्तिस्तस्य प्रादुर्भावो मन्तव्यो भवति ॥

आकाशाद्वायुरुत्पद्यते स च गतिमान् गतिश्च सर्वस्य वस्तुनः सत्येवावकाशे भवितुमर्हति । वायुरितस्ततो गमनेन शरीरं स्पृशति तृणादिकमितस्ततश्चालयति तेनानुमीयते वायुरस्ति यद्याकाशो न स्यात्तर्हि चलनमपि वायोर्न भवेत्। तच्छून्यरूपं तु सदैवास्ति किन्तु तैजसप्रकाशयुक्त आकाशः प्रलये नास्ति तस्मादेव तदानीं वायोरप्यभावः । तैजसकारणप्रकाशप्रसाररूपाकाशाद्वायोरुत्पत्तिः । स च शब्दगुणकाकाशादुत्पन्नो वायुः स्वयं स्पर्शगुणो जायते । कारणगुणश्च तस्मिन्नायात्यतएव शब्दस्य स्पर्शगुणद्वयवान् वायुः कारणरूपसूक्ष्माकाशात्स्थूल उत्पद्यते। आकाशस्य भावे वायोर्भावस्तदभावे चाभावइति वाय्वाकाशयोः कार्यकारणभावः कतिविधे कार्यकारणयोः सारूप्येऽत्रास्तित्वसामान्यम् । एवं वायोरपि शब्दो गुणइति कारणसम्बन्धेन वक्तुं शक्यते। अतएव शब्दोत्पत्तावुक्तमाकाशवायुप्रभवइति । तथा वायोरग्निरुत्पद्यते । अत्र सर्वत्र प्रभवापादानवत्कारकत्वमनुसन्धायाकाशवाय्वादिशब्देषु पञ्चमी । यथा हिमवतो गङ्गा प्रभवतीतिवदत्रापि सम्भूत इति पदं प्रभवकारणत्वं बोधयति तेन वायोराकाशोऽग्नेर्वा वायुर्घटस्य मृद्वदुपादानं नास्ति। साक्षादुपादाने च बाहुल्येन कार्यकारणयोः सारूप्यमपेक्षितं भवति । इत्थं नात्र वायुनाग्नेः सारूप्यमपेक्षितं भवति। किन्तु सति वायावग्निरुत्पद्यतइति वायोः कारणत्वम् । यथा सति वायौ प्रदीपोऽग्निश्च प्रज्वलति नासति । अतएव वायोर्गमनागमनं यत्र घटादेर्निरुध्यते तत्र दीपादिकं न प्रज्वलति । यथा प्रज्वलितं दीपं घटेऽवस्थाप्य तन्मुखे प्रच्छन्ने तत्क्षणएव प्रदीपो निर्विद्यते । एवं सति स्थूलवायोर्गमनआगमने चाग्निः प्रज्वलति नान्यथेति । तेनाग्नेः कारणं

वायुरिति कथनं सम्भवति । कुत्रचिदग्निरपि वायोः कारणम् । तत्र सूक्ष्मविद्युदादिकारणरूपोऽग्निर्वायोः कारणम् । स्थूलस्याग्नेः स्थूलो वायुः कारणमिति ॥

अग्नेरापउत्पद्यन्तेऽतएव ग्रीष्मतापानन्तरं वर्षाकालः । ग्रीष्मस्य सम्यक् तपनमेव वर्षायाः कारणम् । अन्यत्राप्युष्णोत्तेजनपूर्वकं वर्षकर्मास्ति तेनाप्यग्निर्जलोत्पत्तेः कारणमायाति । असति च लोके तेजसि जलस्य द्रवीभावाभावोऽपि सम्भवएव । यदा केन चिद्यन्त्रेण जले व्याप्तोऽग्निराकृष्यते तर्हि जलाकारस्य काठिन्याज्जलाभावः स्यात् । यस्याभावे यदभावस्तत्तस्य कारणमित्यपि न्यायतः सिद्धमेव यथा तैलाभावे प्रदीपज्वलनाभावः । अद्भ्यः पृथिवी प्रादुर्भूयते । अतएव सति वर्षादिद्वारा पृथिवीं जले प्राप्ते सर्वाणि पार्थिववस्तूनि तिष्ठन्ति । जलाभावे संयुक्तपार्थिववस्तूनामवयवियोगेन विनाशः स्यात् । एतेन पृथिव्याः कारणं जलमिति सिध्यति । यत्र यत्र जलस्य प्रवृत्तिस्तत्र तत्र पृथिव्याः सम्यक्त्वम् । पृथिवीसकाशात्फलपाकान्ता ओषधयस्ताभ्यस्तत्फलरूपमन्नमन्नाद्भक्षितात्तत्सारभूतरसादिधातुविपरिणामेन वीर्यमुत्पद्यते तच्च वीर्यं प्राणिशरीरस्योपादानकारणम् । एवमोषधिभ्योऽन्नउत्पन्ने प्राणिशरीराणामुत्पत्तिः । सत्स्वप्यन्नादिषु भक्षकप्राणिशरीरैर्विना रसादिधातवो नोत्पद्यन्ते । अतोऽन्नौषधिसृष्टेरनन्तरं सर्वशक्तिमता परमात्मना सूक्ष्मताद्दशकारणात्प्राणिदेहा उत्पादितास्तैर्भक्षितान्नेन पुनः सति वीर्यादौ मैथुनी सृष्टिः प्रवृत्ता । स्थूलस्त्रीपुरुषसंयोगमन्तरेणाद्भुतशिल्पविशिष्टप्राणिशरीराणामुत्पत्तिः कर्त्तेति परमात्मनः सर्वज्ञत्वम् । तथापि सर्गारम्भे भेदद्वयमादौ बुद्धौ कल्पितम् । पुनश्च स्त्रीपुरुषशक्तिद्वयविशिष्टपरमाणु

संयोन सर्वमुत्पादितमिति स्त्रीपुरुषाभ्यामेव सर्वमुत्पद्यतइत्युक्तं भवति । यद्वा पुरुषः परमात्मा सृष्टेर्निमित्तम् । प्रकृतिरुपादानं स्त्री तयोः सम्बन्धेनोत्पन्ना मैथुनी सृष्टिः । सृष्टौ क्रमस्तूक्तोऽन्यदपि यथा-सम्भवमुक्तम् । इदानीं विरम्यतेऽनल्पजल्पनेन ॥

भावार्थः—अब संक्षेप से उत्पत्ति का क्रम लिखा जाता है । इस में संदेह यह है कि पहिले जड़ की उत्पत्ति होती वा चेतन की और चेतनों में पशु पक्षी कीट पतङ्गादि वा मनुष्य इन में कौन पहिले उत्पन्न होते हैं ? । तथा पांच तत्त्वों में आकाश की उत्पत्ति कैसे सम्भव होती है इत्यादि सैकड़ों विरोध सृष्टि प्रक्रिया में हैं उन को हटाने के लिये यहां संक्षेप से लिखते हैं । पहिले जड़ वस्तु उत्पन्न होते हैं किन्तु चेतन नहीं । जड़ों में पृथिव्यादि भूतों की रचना के पश्चात् मनुष्यादि के भक्ष्य ओषधि आदि पदार्थ और उस के पश्चात् मनुष्यादि चरप्राणियों की उत्पत्ति होती है परन्तु शरीर धारियों में छोटे कीट पतङ्गादि तिस पीछे पशु पक्षी आदि प्राणी उत्पन्न होते और सब से पीछे मनुष्य उत्पन्न होते हैं क्योंकि मनुष्य से नीचे योनि के सब प्राणी मनुष्य के उपकारार्थ हैं इस लिये सुख के वा दुःख के साधन पहिले बनाये जाते हैं । तथा कीट पतङ्ग आदि सूक्ष्म जन्तु हैं स्थूल से पहिले प्रायः सूक्ष्म की उत्पत्ति न्यायानुकूल माननी चाहिये । क्योंकि कारण सदा सूक्ष्म और कार्य स्थूल होता है । यही क्रम प्रायः सब शिष्ट लोगों के सम्मत है । ऐसा मान कर के ही तैत्तिरीय उपनिषद् में यह लिखा है कि "उस परमेश्वर से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से मनुष्यादि के शरीर उत्पन्न होते हैं" तथा सांख्य में लिखा है कि "सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था प्रकृति कहाती उस से द्वितीय कक्षा में महत्तत्त्व उत्पन्न होता जिस को कोई लोग हिरण्यगर्भ कहते उसी को कोई विधि विधाता वा ब्रह्मा कहते हैं कि कार्यरूप संसार की वृद्धि होने का यह पहिला परिणाम है और ब्रह्मा शब्द का अर्थ भी यही है कि जिस से वृद्धि हो । तृतीय कक्षा में अहङ्कार उत्पन्न होता है अहङ्कार से पांच सूक्ष्म भूत और उन से इन्द्रिय इत्यादि प्रकार लिखा है" इन प्रमाणों से स्पष्ट निश्चय होता है कि आकाशादि क्रम से जड़तत्त्व पहिले उत्पन्न होते हैं । यदि

आधारस्वरूप आकाशादि तत्त्व पहिले न हों तो उत्पन्न हुए प्राणी किस के आश्रय से ठहरें और चेतन शरीरों के कारण भी पृथिव्यादि तत्त्व हैं उन कारणरूप तत्त्वों की उत्पत्ति हुए विना प्राणियों के शरीर उत्पन्न नहीं हो सकते क्योंकि कारण के विना कार्य नहीं होता इस लिये सब वस्तुओं के कारणभूत द्रव्य पहिले उत्पन्न होते और पीछे कार्यवस्तु होते हैं। सूक्ष्म प्रकृतिरूप अन्तिम कारण की अपेक्षा यद्यपि तन्मात्रादि सूक्ष्मभूत भी कार्य ही हैं तो भी स्थूल भूतों की अपेक्षा से वे कारण ही समझे जाते हैं। यद्यपि कार्यरूप अग्नि, वायु का कार्य है तो भी जल की उत्पत्ति की अपेक्षा से अग्नि भी कारण है। इस प्रकार कार्य कारण व्यवस्था सापेक्ष है अर्थात् जो कारण है वह किसी की अपेक्षा से कार्य और ऐसे ही कार्य्य कारण हो जाता है। सृष्टि के आरम्भ में सब से पहिले प्रकाश उत्पन्न होता है तब चौथी अवस्थारूप निर्बीज समाधि से सचेत हुआ सृष्टि करने को उद्यतरूप से परमात्मा जागता है इस प्रकार उस परमेश्वर का जागना ही प्रकाश की उत्पत्ति है। उस को कोई अन्य जगाता नहीं किन्तु वह स्वयमेव सचेत होता है इसी लिये वह स्वयम्भू कहाता है यही बात मनुस्मृति के छठे श्लोक में (प्रादुरा०) इत्यादि प्रकार कही है। उस परमेश्वर से द्वितीयावस्था में आकाश उत्पन्न होता है जो सब वस्तुओं का आधार जिस में सूर्यादि ज्योति नियम पूर्वक तपते भ्रमते और शोभित होते हैं। उसके अवकाश देने स्वरूप होने से नित्य होना कह सकते हैं फिर उस की उत्पत्ति क्यों दिखायी जाती है ?। इस का उत्तर संक्षेप से यह है कि घड़ा आदि के तुल्य आकाश उत्पन्न नहीं होता यदि कभी किसी प्रकार तैजस वस्तुओं का सर्वथा अभाव होने से अन्धकार हो जावे। कोई कहीं जा भी न सके तो अवकाश के रहने पर भी कार्यसिद्धि का हेतु न होने से उस का अभाव जैसे कह सकते हैं। और प्रकाश रहने पर कार्यसिद्धि का हेतु होने से आकाश उत्पन्न होता ऐसा व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार आकाश शब्द काश धातु से यौगिक पक्ष में परमात्मा का नाम है और योगरूढ़ दशा में शब्दगुण वाले आकाश तत्व का नाम है। अच्छे प्रकार प्रकाशित होता इस लिये सर्वविध प्रकाश के आधार का नाम आकाश है इसी से सूर्यादि ज्योतियों के प्रकाश से रहित प्रलय दशा में अन्धकार रूप शून्य की आकाश संज्ञा नहीं कह सकते इसी से आकाश नहीं है ऐसा व्यवहार कर सकते हैं। और सृष्टि के आरम्भ में फिर व्यवहार होता है कि आकाश हो गया ।

यह भी उस आकाश की उत्पत्ति है। तथा अवकाश अनन्त है। जहां सृष्टि नहीं है वहां भी शून्यरूप पोल है उस में से जितने अवकाश में ब्रह्माण्ड रचा गया सृष्टि के आरम्भ में उस की आकाश संज्ञा धरी गयी क्योंकि सूर्यादि ज्योतियों के वहां रहने से ब्रह्माण्डस्थ ही शून्य प्रकाशयुक्त होता उसी में वायु आदि साधनों के विद्यमान रहने से शब्द की भी उत्पत्ति हो सकती है इस लिये वही आकाश है अन्य शून्य आकाश नहीं यह भी आकाश की उत्पत्ति दिखाने का आशय है इस प्रकार आकाश की उत्पत्ति होती है पर घटादि के तुल्य नहीं। आकाश का शब्द गुण है उस शब्द की उत्पत्ति में वायु भी सहयोगी कारण है वायु के विना केवल आकाश से शब्द का श्रवण नहीं हो सकता। पर तो भी शब्द का मूल कारण आकाश है। तथा संयोग विभाग से शब्द की उत्पत्ति होती (अर्थात् ताल्वादि स्थानों के संयोग से वा भेरी दण्डादि के संयोग से शब्द की उत्पत्ति होती है वे संयोग विभाग विना अवकाश के हो नहीं सकते) इस से भी शब्द का मूल कारण आकाश होता है तथा उस आकाश का शब्द गुण सहित होना प्रलयदशा में नहीं घटता ऐसा मान कर है सृष्टि के आरम्भ में शब्द का आश्रय बनने से आकाश की उत्पत्ति अर्थात् प्रादुर्भाव मानने पड़ता है॥

पीछे आकाश से वायु उत्पन्न होता है और वह वायु गतिवाला होता है। सब वस्तु की गति अवकाश होने पर ही हो सकती है। वायु इधर उधर चलने से शरीर में लगता और तृणादि को इधर उधर चलाता है इस से अनुमान होता है कि वायु है। यदि आकाश न हो तो वायु का भी चलना न हो सके। वह शून्यरूप पोल तो सदा ही है किन्तु तैजस प्रकाश से युक्त आकाश प्रलयावस्था में नहीं रहता इसी कारण उस समय वायु का भी अभाव है। तैजस कारणरूप प्रकाश के फैलनेरूप आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है वह शब्दगुणवाले आकाश से उत्पन्न हुआ वायु स्वयं स्पर्श गुणवाला होता है और उस में कारण का गुण भी आता है इसी लिये शब्द और स्पर्श दो गुणों वाला वायु अपने कारणरूप सूक्ष्म आकाश से स्थूल उत्पन्न होता है। आकाश के होने पर वायु का होना और उस के न होने पर वायु का न होना आकाश का कार्यकारण सम्बन्ध है। कार्यकारणों की एकता कई प्रकार से मानी जाती है। उन में यहां अस्तित्व सामान्य वा कारण की सत्ता में कार्य का होना अर्थात् जिस की विद्यमानता में जो रहे और जिस के न रहने पर जो न रहे

वह उस का कारण कहाता है। इस प्रकार यहां दोनो कार्यकारण की एकरूपता है। इसी प्रकार वायु का भी शब्द गुण है यह वायु के कारण आकाश के सम्बन्ध से कह सकते हैं। इसी लिये शब्द की उत्पत्ति में कहा है कि—आकाश और वायु दोनों से शब्द उत्पन्न होता है॥

तथा वायु से अग्नि उत्पन्न होता है। यहां सब स्थलों में प्रभव अपादान के तुल्य कारकपन मान वा विचार के आकाश वायु आदि शब्दों में पञ्चमी विभक्ति की गयी है। जैसे कहा जाता है कि "हिमालय से गङ्गा निकलती वा प्रकट होती है" इसी प्रकार यहां भी निकलना वा प्रकट होना अर्थ है। और (सम्भूतः) यह पद उत्पत्ति के कारण को जताता है। इस से वायु का आकाश अथवा अग्नि का वायु घड़ा का मट्टी के समान उपादानकारण नहीं अर्थात् जैसे मट्टी स्वयं घड़ारूप बन जाती है वैसे आकाश वायुरूप और वायु अग्निरूप नहीं बन जाता। घड़ा का उपादानकारण मट्टी है पर वायु का उपादान आकाश और अग्नि का उपादान वायु नहीं है। और जहां घड़ा के उपादान मट्टी के तुल्य साक्षात् कार्य का उपादानकारण होता है वहां विशेष कर कार्यकारण की एकरूपता अपेक्षित होती है। इसी प्रकार यहां साक्षात् उपादानकारण न होने से वायु के साथ अग्नि का सारूप्य अपेक्षित नहीं होता किन्तु वायु की विद्यमानता में अग्नि की उत्पत्ति होती है इस लिये अग्नि का कारण वायु माना जाता है। जैसे वायु के होने पर दीपक और अग्नि जलते हैं न होने पर नहीं। इसी से जहां वायु का आना जाना रोक दिया जाता है वहां२ दीपादि नहीं जल सकता। जैसे जलते हुए दीपक को एक घड़ेमें धर के घड़ा का मुख बन्द कर दिया जावे जिस से उस में किञ्चित् भी वायु न पहुंचे तो उसी क्षण भर में दीपक बुत जायगा। ऐसा होने पर स्थूल वायु के आने जाने से अग्नि जलता है अन्यथा नहीं। इस से अग्नि का कारण वायु है यह कथन सम्भव है। तथा कहीं अग्नि भी वायु का कारण होता है। उस में भेद यह है कि सूक्ष्म बिजुली आदि कारणरूप अग्नि वायु का कारण है। और यही कारण अग्नि सब से पहिले उत्पन्न होता इसी के सम्बन्ध से शून्य का आकाश नाम पड़ता है इसी की व्याप्ति से वायु चलता है इस लिये इसी को वायु का कारण मानते हैं पर स्थूल अग्नि का स्थूल वायु ही कारण है यह पूर्व से सिद्ध हो चुका॥

अग्नि के पश्चात् जल उत्पन्न होता इसी कारण ग्रीष्म ऋतु तपने पश्चात् वर्षा ऋतु होता अर्थात् ग्रीष्म ऋतु का अच्छे प्रकार तपना ही वर्षा का कारण

है। तथा अन्य समय में भी जब २ वर्षा होती है तब २ उष्णता की उत्तेजना पूर्वक ही होती है इससे भी जलों की उत्पत्ति का कारण अग्नि आता है। यदि जगत् में अग्नि न हो तो जल में वहनारूप द्रवगुण रहना भी असम्भव है। तथा किसी यन्त्र से जल में व्याप्त अग्नि निकाल लिया जावे तो जलाकार की कठिनता हो जाने से जल का ठहरना ही सम्भव नहीं (जल में से अग्नि का भाग निकाल लेने पर ही बरफ बन जाता है वही अग्नि वायु के सम्बन्ध से फिर जलरूप हो कर वहने लगता है) और जिसके अभाव में जिस का अभाव होता है वह उसका कारण हो यह भी न्याय से सिद्ध ही है जैसे तैल के न रहने पर दीपक नहीं जलता। तथा जल से पृथिवी उत्पन्न होती है इसी कारण जब वर्षादि द्वारा पृथिवी को जल प्राप्त होता है तभी पृथिवी सम्बन्धी सब वस्तु ठहरते हैं। जल न रहे तो संयोग से बने पृथिवी सम्बन्धी सब वस्तुओं के अवयवों का वियोग हो कर विनाश हो जावे इस से पृथिवी का कारण जल सिद्ध होता है। जहां २ जल की प्रवृत्ति है वहां २ पृथिवी की ठीक दशा है। पृथिवी के सम्बन्ध से फल पकते समय स्वरूप से सूखने वा नष्ट होने वाली ओषधियां उन ओषधियों से उन का फलरूप अन्न तथा खाये हुए अन्न से साररूप रसादि धातु उत्पन्न होते और उन धातुओं का परस्पर विपरिणाम होते २ वीर्य धातु उत्पन्न होता है वह वीर्य प्राणियों के शरीरों का उपादानकारण है। इस प्रकार ओषधियों से अन्न उत्पन्न होने पर प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति होती है। अन्नादि भोग्य वस्तुओं के होने पर भी भोक्ताओं के विना रसादि धातु न होने से प्राणियों के शरीर नहीं उत्पन्न होते। इस लिये अन्न और ओषधि की रचना के अनन्तर सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने वैसे ही सूक्ष्मकारण से प्राणियों के शरीर उत्पन्न किये। उन्हों ने खाये अन्न से फिर वीर्यादि धातु हो कर मैथुनी सृष्टि हुई। स्थूल स्त्री पुरुषों के संयोग के विना अद्भुत शिल्पयुक्त प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति की है इस से उस परमेश्वर का सर्वज्ञ होना सिद्ध है। सृष्टि के आरम्भ में प्रथम बुद्धि में दो भेद कल्पना किये उन का नाम स्त्री पुरुष रक्खा गया पीछे स्त्री पुरुषरूप दो शक्तियों से युक्त परमाणुओं के संयोग से सब को उत्पन्न किया इस प्रकार स्त्री पुरुषों के संयोग से सब उत्पन्न होता है यह आशय निकलता है। अथवा पुरुष नाम परमात्मा सृष्टि का निमित्त और प्रकृति उपादानरूप स्त्री उन दोनों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई सृष्टि भी मैथुनी कहाती है।

सृष्टि प्रक्रिया में उत्पत्ति का क्रम तथा अन्य भी यथासम्भव कहा अब इस विषय में अधिक लिखना समाप्त करते हैं। आगे प्रथमाध्याय की समीक्षा लिखी जायगी॥

अथ प्रथमाध्यायस्य प्रक्षिप्तसमीक्षणम् ॥

येषां येषां पद्यानां मया प्रक्षिप्तत्वं ज्ञाप्यतेऽग्रे वक्ष्यतेऽस्मिन्नध्याये द्वितीयादिषु वा तत्र सर्वत्र स्वानुमतेः प्रकाशनमेव प्रयोजनं नतु तत्र किमप्याग्रहेण वक्तुमुचितमस्ति। यदि तत्र कश्चिद्विद्वान् समुदायो वा विप्रतिपन्नः स्यात्तर्हि तेन सुहृद्भावपुरस्सरं वक्तव्यमिदमित्थं कार्यमिति। यदि सत्यमन्यथाभूतं द्रक्ष्यामस्तर्हि भृशं तथाभूतमविप्रतिपन्नं करिष्यामः।

यत्र यत्रेदं पश्चात् प्रक्षिप्तमिति वक्ष्यामस्तत्र तत्र प्राधान्येनेमानि कारणानि बोध्यानि। यद्वाक्यं कथमपि वेदाशयाद्वेदसिद्धान्तादन्यब्राह्मणोपनिषन्न्यायमीमांसाद्यनेकग्रन्थेभ्यो वा विरुद्धं तत्प्रक्षिप्तम्। नहि वेदानुयायिशुद्धात्मतपोनिष्ठबहुदृष्टबहुश्रुतविदितवेदितव्याधिगतयाथातथ्यानामृषीणां कथनं कथमपि वेदाद्विरुद्धं भवितुमर्हति।

यच्चासंबद्धप्रलापवदस्थाने धृतं प्रकरणविरुद्धं दूरतो दृश्यते। नहि विद्वांसएवं प्रकरणविरुद्धं कथनं क्वापि कुर्वन्ति। तृतीयं पुनरुक्तानि पद्यानि—यथा प्रथमाध्याये यदुक्तं तदेव पुनरपि तृतीये चतुर्थे वा तादृशैः पदैस्तत्पर्यायवाचकैस्तदाशयकैर्वा पुनरुक्तं प्रक्षिप्तमेव बोध्यम्।

यच्च परस्परं विरुध्यते पूर्वं यदुक्तं ततो विरुद्धमग्रे कथनं तत्र च द्वयोरेकस्यैव याथार्थ्यं सम्भवति मतभेदवर्जम्। यत्र कुत्रापि

मतान्तरं प्रदर्शितं तत्र तु द्वितीयस्य विरुद्धसम्मतिज्ञापनार्थैव ग्रन्थनिर्मात्रा द्विविधानि वचांस्युक्तानि नैव तत्र विरोधोऽस्ति येन प्रक्षिप्तं स्यात् । इत्यादीनि कारणानि प्रक्षिप्तज्ञापनाय प्रभवन्ति ।

प्रथमाध्याये सृष्टिप्रक्रियायाः सामान्येन वर्णनम् । तदनन्तरं च सर्वग्रन्थस्य विषयाणां सूचीपत्रं श्लोकैरेवोक्तम् । तत्र जगतः समुत्पत्तिविषयानन्तरं संस्कारविधिर्गर्भाधानादिसंस्कारा द्वितीयाध्याय उक्ताः । तयोर्मध्ये सद्युगादीनां व्यवस्था पापपुण्ययोरुपयोगो ब्राह्मणवर्णस्य विशिष्टा प्रशंसेत्यादि कथनमप्रासङ्गिकम् । सूचीपत्राद् बाह्यं चातो प्रक्षिप्तमित्यनुमीयते । इदानीं वर्त्तमानपुस्तकेषु प्रथमाध्याय एकोनविंशतिशतं पद्यानि मुद्रितान्युपलभ्यन्ते । पाठान्तररूपाणि पद्यानि चातो भिन्नानि तानि च केषुकेषुचित्पुस्तकेषूपलभ्यन्ते तेनानुमीयते सद्यः प्रक्षिप्तानि । यानि च बहुकालात्प्रक्षिप्तानि तानि-सर्वपुस्तकेषूपलभ्यन्ते । आदौ त्रयोदशश्लोकास्तु निर्विघ्नाः । द्वात्रिंशः श्लोकश्चतुर्दशो विपरिणाम्यइति प्रतिभाति । द्विधाकृत्वेति श्लोकस्य मेधातिथ्यादिसर्वभाष्यकारैर्योऽर्थः कृतः स वेदादिशास्त्राद्विपरीतस्तुच्छश्चेति स्पष्टमवगम्यते । वेदादिशास्त्रेषु सर्वत्रैवैकस्मादेव परमात्मनः सर्वा सृष्टिरुत्पन्नेत्युक्तम् । यस्मात्पुरुषाउत्पन्नास्तस्मादेव सर्वाः स्त्रियश्च नहि स्त्रीपुरुषभेदद्वयनिर्माणाय कस्य चिद्देहधारिणो मनुष्यस्य खण्डद्वयं कर्त्तुं युक्तम् । सत्यपि कथंचित्खण्डद्वयेन स्त्रीपुरुषभेदे सिद्धे तथापि पशुपक्ष्यादिषु स्त्रीभेदः कथं स्यात् । किं तत्रापि कस्यचित्पश्वादेः खण्डद्वयेन भेदः कार्यः ? । पश्यत—देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये । उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे । इत्यथर्ववेदे ११ । ७ । २७ । स्पष्टमत्राप्सरश्शब्दवाच्यानां स्त्रीणामुच्छिष्टादुत्पत्तिरुक्ता ।

नह्यत्र कस्यचित्पुरुषविशेषस्य खण्डाभ्यामुत्पत्तिरस्ति । एवं वेदेषु शतशः प्रमाणानि प्राप्स्यन्ति यैः साक्षात्परमात्मत एव भोग्य-भोक्तृरूपस्त्रीपुरुषद्वयस्यापि नितरामुत्पत्तिः सेत्स्यति । पुरुषस्य खण्डेनोत्पत्तिर्वेदेषु क्वापि नास्ति । तथाऽसम्भवश्चायमर्थो यदेक-पुरुषशरीरस्य खण्डद्वयकरणेन स्त्रीपुरुषौ स्याताम् । किं शिरस्त आयतं खण्डद्वयं कृतं नाभितो वा । यद्यायतौ तर्ह्येकाक्ष एककर्ण एकबाहुरेकजङ्घश्च पुरुषः स्यात् स्त्री च । मध्यतश्चेदधोभागाकृति-मानेकः स्यात् । तत्तु न दृश्यते । इत्यादिकारणैरुपहासयोग्योऽय-मर्थस्तस्मादग्राह्यः । सत्यार्थस्त्वयम्—आत्मनः स्वस्य सम्बन्धिनं कथंचिद्विकृतिमापन्नं तन्मात्रविषयाकारेणोपचितं कार्यकारणयोर्म-ध्यावस्थं सर्वस्य वस्तुनः पूर्वरूपं द्विधा द्विप्रकारकं कृत्वाऽर्द्धेन पुरुषो वीर्यसेचनसमर्थः पुमानुत्कृष्टशक्तिः काठिन्यविशिष्टः पुंस्त्वमापन्न-श्चराचरएको भेदः । द्वितीयार्द्धेन गर्भधारणशक्तिमती निकृष्टा कोमलस्वभावा स्त्रीत्वमापन्ना चराचरे द्वितीयो भेदः । अयमर्थो वेदानुकूलः सम्भवितो गाम्भीर्यमापन्नश्चास्ति । एवमर्थे क्रियमाणे तत्पद्यं स्थानभ्रष्टमित्यनुमीयते । यतः सर्वस्य वस्तुनो विशेषसर्गात्पू-र्वमेवैतादृशपद्येन भाव्यम् । पश्चाद्ब्राह्मणस्य सर्गकथने ब्राह्मण्या अपि सर्जनमायास्यति । एतच्च प्रश्नोपनिषदि रयिप्राणशब्दाभ्यां चन्द्रसूर्यशब्दाभ्यां वा स्पष्टं प्रदर्शितम् । इत्थं सत्येव तेनापि सर्व-मानुकूल्यं भविष्यति । युक्ततरं चैवमेवास्ति । यद्विशेषरचनातः पूर्वमेव स्त्रीपुरुषरूपभोग्यभोक्तृशक्त्योः सर्वस्मिन् वस्तुमात्रस्य कारण एव भेदकल्पना कार्या । इत्थमेव च प्रश्नोपनिषदि वर्णितम् । एवमत्र सर्वेषां भाष्यकाराणां भ्रम इत्यनुमीयते । अस्मिन् गूढे

गम्भीरे शास्त्रार्थे राघवानन्दभाष्यकारस्य कथंचित्स्वल्पा बुद्धिः प्रविष्टा नतु पूर्णतया। सृष्टिप्रक्रियायां त्रयोदशपद्याग्रे धृतपद्यमिदं स्थानभ्रष्टं न भविष्यतीति मदीया मतिः।

(द्विधाकृ०) द्वात्रिंशत्पद्यस्य पश्चात्पठितानि नवपद्यानि प्रक्षिप्तानि प्रतिभान्ति तानि च "तपस्तप्त्वा०" इत्यारभ्य सृष्टं स्थावरजङ्गममित्यन्तम्। एकस्मिन् प्रदेशे बहवो राजानइव बहवः स्रष्टारो न सम्भवन्ति। वेदेषु देवादिसृष्टिरपि साक्षात्परमात्मतएव दर्शिता न तु बहुभ्यो मनुभ्यः। विशेषस्तत्र वक्ष्यते। अग्रे एकाशीतिपद्यादारभ्य षट्श्लोका दानमेकं कलौ युगइत्यन्ताः प्रक्षिप्ताः। नहि सृष्टिप्रकरणे युगविशेषेषु धर्मस्य न्यूनाधिकव्यवस्थापनं प्रकरणबद्धं सम्भवति। अतः प्रकरणविरुद्धमित्येको हेतुः। नहि कस्मिंश्चित्समयविशेषे सर्वथा धर्मोऽधर्मएव वा भवितुमर्हति तयोः सापेक्षसिद्धत्वात् प्रकाशान्धकारवत्। यदि च प्रकाशो न स्यात्कस्यान्धकारता भवेत्। यथा शीताभावे उष्णस्योष्णाभावे च शीतस्य स्थितिरसम्भवा। एवंकृतयुगेऽप्यधर्मस्य स्थितिरवश्यं मन्तव्या। वेदेऽपि पश्येम शरदः शतम्। शतायुर्वै पुरुषइत्यादीनि प्रमाणानि सन्ति न च तानि कलियुगार्थमेवेति वक्तुं शक्यते। सामान्यतया सर्वयुगार्थमिति सत्यमेव। अतो वेदविरुद्धत्वादपि हेतोः प्रक्षिप्तमेतत्।

अग्रे सप्ताशीतिपद्यमारभ्यैकनवतिपद्यावधि पञ्चश्लोकानां दशमाध्यायस्थैर्ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्थाइत्यादिपद्यैः कथंचित्पौनरुक्त्यं प्रतिभाति तत्तु समाधेयमेव। अत्र प्रथमाध्याये ब्राह्मणादिकर्मणां विभागः स्वस्वकर्मणि सर्गे नियोजनमेव प्रयोजनम्। अस्य च सृष्टिप्रक्रियया साकं सम्बन्धइति कृत्वा प्रथमाध्याये वर्णनम्।

ब्राह्मणादिभिरापदि कथं जीविका कार्येति दर्शनाय दशमे कर्मणामनुवादेन वर्णनम् ।एवं नास्ति पौनरुक्त्यम् ।

अग्रे चतुर्णवतिपञ्चनवतिश्लोकौ क्षिप्तौ । एकत्रिंशच्छ्लोकेन त्रिणवतिश्लोकेन साकं वा पुनरुक्तत्वात् । सर्वस्यास्य च गुप्तयइत्यपि सप्ताशीतिपद्येन सार्द्धं पुनरुक्तम् । तथा नह्यन्यमुखेनान्यो भोक्तुमर्हति । नहि देवा विप्रमुखेन हव्यान्यश्नन्त्यपितु वह्निमुखेन । अग्नौहुतं द्रव्यं प्रकारान्तरेण प्रदेशान्तरं गच्छतीति न्यायतः सिद्धम् । नहि ब्राह्मणेन भुक्तं कथमपि मेघमण्डलं गच्छतीति वक्तुं क्यशते । अतो ब्राह्मणैर्भोजनभट्टैः परपाकोपासकैर्निर्मितमिदं पद्यमित्यनुमीयते ।

तथाऽष्टनवतिपद्यमारभ्यैकशतं यावत्प्रक्षिप्तानि । एक देशीयत्वं तु तेषां पद्यानां स्फुटमेव । अत्र ह्यनुचिता पुनरुक्ताऽसम्बद्धा पक्षपातग्रस्ता स्वार्थग्रस्ता च ब्राह्मणवर्णस्य प्रशंसास्ति तेन चत्वारीमान्यपि क्षिप्तानीति प्रतिभाति । विशेषस्तत्रैव वक्ष्यते ।

द्व्युत्तरशतपद्यादारभ्य सप्तोत्तरशतं यावदपि पद्यानि निष्प्रयोजनानि स्वल्पप्रयोजनानि वा कथंचिदसंबद्धानि पक्षपातग्रस्तानि वेदादिशास्त्राद्विरुद्धानि—आत्मश्लाघादोषग्रस्तानि—अतिप्रशंसापराणि च सन्ति तस्मात्तुच्छत्वेन पश्चात्कैश्चित्स्वार्थसाधनतत्परैः क्षिप्तानीत्यनुमीयते ।

अग्रे सप्तोत्तरशतादारभ्य दशोत्तरशतावधि पद्यचतुष्टयं चतुर्थाध्यायस्थ (१५५।१५६) पद्याभ्यां सार्द्धं पुनरुक्तं प्रतिभाति । तथापि चतुर्थाध्यायस्थपद्ययोरुपरि भाष्यकाराणामादिर्मेधातिथिर्नोपलभ्यते तेनानुमीयते मेधातिथेर्भाष्यकरणावसरे तावेव श्लोकौ

चतुर्थे नास्तामिति । अनेन प्रथमाध्यायस्थमाचारप्रतिपादकं पद्यचतुष्टयं प्रक्षिप्तं नास्तीत्यनुमीयते । एकादशोत्तरशतपद्यादारभ्य सर्वस्य ग्रन्थस्य सूचीपत्रं, तत्र नास्ति काचिद्विप्रतिपत्तिः । एवमस्मिन्प्रथमाध्याये एकोनविंशतिशतं श्लोका उपलभ्यन्ते तेषूक्तप्रकारेण मदनुमत्या यदि षड्विंशतिः पद्यानि प्रक्षिप्तानि स्युस्तदा त्रिणवतिः पद्यान्यवशिष्टानि शुद्धान्यार्षाणि मन्तव्यानि ॥

भाषार्थः—अब प्रथमाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा वा विचार किया जाता है । मैं इस अध्याय वा दूसरे आदि अध्यायों में जिन२ श्लोकों को प्रक्षिप्त कहूं वा जताऊं गा वहां सर्वत्र अपनी अनुमति का प्रकाश करना ही प्रयोजन है । किन्तु वहां कुछ आग्रह पूर्वक कहना उचित नहीं । यदि उसमें किसी विद्वान् वा समुदाय को विरोध जान पड़े तो उसको मित्रता पूर्वक कहना चाहिये कि इसको इस प्रकार करना योग्य है । यदि सत्य से विपरीत हो गया दीख वा जान पड़ेगा । तो शीघ्र वैसा अविरुद्ध सुधार दिया जायगा ।

जहां २ यह पीछे मिलाया गया वा यह प्रक्षिप्त है ऐसा कहेंगे वहां२ मुख्य कर निम्नलिखित कारण जानने चाहिये । जो वाक्य किसी प्रकार वेद के आशय वा वेद के सिद्धान्त से तथा अन्य ब्राह्मण उपनिषद् न्याय और मीमांसादि अनेक ग्रन्थों से विरुद्ध हो वह प्रक्षिप्त है अर्थात् किसी विद्वान् ऋषि महर्षि का बनाया नहीं है । क्योंकि वेदानुयायी, शुद्ध, आप्त, तपस्वी, बहुदृष्ट, बहुश्रुत, जिन्हों ने जानने योग्य को जान लिया और यथार्थ सत्य को प्राप्त कर लिया ऐसे ऋषियों का कथन कदापि वेद से विरुद्ध नहीं हो सकता । तथा जो असम्बद्ध प्रलाप के तुल्य अयोग्य स्थान में प्रयुक्त, प्रकरण से विरुद्ध दूर से दीखता है । क्योंकि विद्वान् लोग प्रकरणविरुद्ध कथन कहीं नहीं करते । इस से प्रकरणविरुद्ध प्रक्षिप्त है । तीसरे पुनरुक्त श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं जैसे प्रथमाध्याय में जो कहा वही तीसरे चौथे में वैसे ही वा उसके पर्यायवाचक वा उस प्रकार के आशय वाले पदों से फिर२ कहा जावे वह पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त समझा जाता है । तथा जो परस्पर विरुद्ध हो कि पूर्व जो कहा उससे विरुद्ध आगे कहा जावे। उन दोनों में एक ही ठीक वा सत्य ठहर सकता है । परन्तु सम्मति भेद को छोड़ कर अर्थात् जहां कहीं सम्मति भेद दिखाया गया वहां तो दूसरे की विरुद्ध

सम्मति जताने के लिये ही ग्रन्थ कर्त्ता ने दो प्रकार के वचन कहे हैं किन्तु वहां विरोध नहीं है जिस कारण प्रक्षिप्त हो। इत्यादि कारण प्रक्षिप्त जताने के लिये होते हैं जिन का यहां उदाहरण मात्र दिखाया है।

प्रथमाध्याय में सृष्टि प्रक्रिया का सामान्य कर वर्णन है। उस के पश्चात् सब ग्रन्थ भर के विषयों का सूचीपत्र श्लोकों से ही कहा है। वहां जगत् की उत्पत्ति विषय के पश्चात् गर्भाधानादि संस्कार द्वितीयाध्याय में कहे हैं। इन उक्त दोनों विषय के बीच ही सत् युगादि की व्यवस्था, पाप पुण्य का न्यूनाधिक उपयोग, ब्राह्मणादि वर्णों के कर्म और ब्राह्मण वर्ण की विशेष प्रशंसा इत्यादि कथन प्रकरण विरुद्ध है और सूचीपत्र में लिखे विषयों से बाह्य वा पृथक् है इस से प्रक्षिप्त है ऐसा अनुमान होता है। इस समय वर्त्तमान पुस्तकों में ११९ एक सौ उन्नीश श्लोक छपे हुए मिलते हैं। और पाठान्तर रूप श्लोक इन से भिन्न हैं। और वे किन्हीं २ पुस्तकों में मिलते हैं इस से ही उनका नाम पाठान्तर रक्खा गया। तिससे अनुमान होता है कि वे पाठान्तर रूप श्लोक वा वाक्य शीघ्र थोड़े काल से मिलाये गये हैं और जो बहुत काल से मिलाये गये वे सब पुस्तकों में मिल जाने से सर्वत्र प्राप्त होते हैं अर्थात् जो वस्तु किसी में मिलाया जाता वह काल पाकर उसके सर्वांश से सम्बद्ध हो जाता है।

इस प्रथमाध्याय के प्रारम्भ में १३ श्लोक तो निर्विघ्न हैं। अर्थात् बत्तीशवें श्लोक को तेरह के आगे चौदहवां रखना चाहिये ऐसा विचार ठीक जान पड़ता है। इस श्लोक पर मेधातिथि आदि सब भाष्यकारों ने जो अर्थ किया है वह वेदादि शास्त्रों से विपरीत और तुच्छ है। यह स्पष्ट जान पड़ता है [यह बात मेरे कहने मात्र से नहीं किन्तु जो कोई उस अर्थ को सुने गा वही ऊट पटांग कहेगा कि ब्रह्मा ने अपने शरीर को बीच से चीर के दो टुकड़े किये उनमें एक से पुरुष और दूसरे से स्त्री हुई। भला किसी पुरुष के शरीर को बीच से चीर देने से स्त्री पुरुष दो हो जावें यह सम्भव है ? । यदि ऐसा हो सकता हो तो जो पुरुष स्त्रियों के विना दुःखी हैं जिनको स्त्री नहीं मिलती वे अपने शरीर को चीर डालें तो उसी शरीर से स्त्री भी निकल आवे। विचार कर देखिये तो चीरने से वह पुरुष भी मर जावेगा। दो होना तो पृथक् रहा वहां एक भी रहना असम्भव है] वेदादि शास्त्रों में सर्वत्र ही एक परमेश्वर से सब सृष्टि उत्पन्न होती ऐसा लिखा है। जिस से पुरुष हुए उससे स्त्रियां भी उत्पन्न हुईं

किन्तु स्त्री पुरुष रूप दो भेद बनाने के लिये किसी देहधारी मनुष्य के दो खण्ड नहीं करना चाहिये। कदाचित् पुरुष के दो खण्ड होने से स्त्री पुरुष का भेद सिद्ध हो जावे (यद्यपि यह असम्भव है तो भी अभ्युपगम सिद्धान्त से मान लो कि यह ऐसा हो) तो भी पशु पक्षी आदि में स्त्री भेद कैसे होगा ?। क्या वहां भी किसी पशु आदि के दो खण्ड कर स्त्री पुरुष भेद मानना चाहिये ?। देखो ! अथर्व वेद में लिखा है कि "देव–विद्वान् पुरुष कर्म प्रधान, पितर—दीर्घ दर्शी बहुश्रुत, साधारण मनुष्य तथा गान विद्या में प्रवीण पुरुष और स्त्री ये सब उसी नित्य निराकार परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं" यहां स्पष्ट अप्सरस् शब्द वाच्य स्त्रियों की उत्पत्ति परमेश्वर से हुई लिखी है किन्तु यहां किसी पुरुष विशेष के दो टुकड़ों से उत्पत्ति नहीं है। इस प्रकार वेदों में सैकड़ों प्रमाण प्राप्त होंगे जिन के द्वारा साक्षात् परमात्मा से ही भोग्यभोक्तारूप स्त्री पुरुष दोनों की निरन्तर उत्पत्ति सिद्ध हो जायगी। अर्थात् पुरुष के टुकड़ों से वेदों में कहीं स्त्री पुरुष के भेद की उत्पत्ति नहीं है। तथा यह अर्थ असम्भव भी है जो एक पुरुषशरीर के दो खण्ड करने से स्त्री पुरुष हो जावें। क्या शिर की ओर से लम्बाई में दो खण्ड किये वा चौड़ाई में ?। यदि लम्बा २ बीच से शरीर चीर दिया तो एक आंख एक कान एक बांह और एक गोड़े वाला पुरुष वा स्त्री होने चाहिये ! यदि बीच नाभि वा कटिभाग से दो टुकड़े किये गये हों तो नीचे वा ऊपर के ही अवयवों वाला एक होता सो तो दीखता नहीं इत्यादि कारणों से उपहासयोग्य होने से यह अर्थ अग्राह्य है। और सत्य अर्थ यह है--किसी प्रकार विकारी हुए तन्मात्र और विषयरूप से वृद्धि को प्राप्त सब स्थूल वस्तुओं का पूर्वरूप कार्यकारण के मध्य में अवस्थित प्रकृति के कार्यरूप अपने देह को परमेश्वर ने दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से स्त्री को बनाया और स्त्री में इस सब ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया अर्थात् जड़ चेतन प्रत्येक पदार्थ में स्त्री पुरुषरूप दो प्रकार का भेद किया। पुरुष में वीर्य छोड़ने की शक्ति तथा कठिनता दृढ़ और प्रबलशक्ति रक्खी गयी तथा स्त्री में गर्भ धारणशक्ति कोमलता और निर्बलता रक्खी गयी। इसी लिये स्त्री को अबला भी कहते हैं। यह अर्थ सम्भव वेदानुकूल और गम्भीरता युक्त भी है। ऐसा अर्थ होने पर वह श्लोक स्थान भ्रष्ट अर्थात् जहां रखना चाहिये वहां नहीं है। क्योंकि सब वस्तु की विशेष रचना से पूर्व ही ऐसा श्लोक होना चाहिये पीछे ब्राह्मणादि चेतन

वा जड़ की सृष्टि कहने में ब्राह्मणी आदि उस २ की सम्बन्धिनी स्त्री की रचना भी आ जायगी। यह बात प्रश्नोपनिषद् में रयि प्राण और चन्द्र सूर्य शब्दों से स्पष्ट दिखायी है। यहां भी ऐसा मानने पर ही उस के अनुकूल होगा। और ठीक भी ऐसा ही है जो विशेष रचना से पूर्व ही स्त्री पुरुषरूप भोग्यभोक्तृशक्तियों की वस्तु मात्र के सब कारण में ही भेद कल्पना करनी चाहिये ऐसा ही प्रश्नोपनिषद् में भी कहा है।

इस प्रकार यहां सब भाष्यकारों का भ्रम ही प्रतीत होता है। इस गूढ़ और गम्भीर शास्त्र के अर्थ में राघवानन्द भाष्यकार की कुछ थोड़ी बुद्धि चली है। इस सब कथन से सिद्ध हुआ कि सृष्टिप्रक्रिया में १३ तेरहवें श्लोक के आगे इस बत्तीशवें (द्विधाकृ०) श्लोक को रक्खा जावे तो अनुचित नहीं जान पड़ेगा किन्तु ठीक सङ्गत जान पड़ेगा यह मेरी सम्मति है। (द्विधाकृत्वा०) इस बत्तीशवें श्लोक से पश्चात् पढ़े नौ श्लोक ३३—४१ तक अर्थात् "तपस्तप्त्वा० यहां से लेकर नौ श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। जैसे एक देश में बहुत राजा नहीं हो सकते वैसे सृष्टिकर्त्ता भी अनेक नहीं हो सकते अर्थात् इन नव श्लोकों में कई सृष्टिकर्त्ता दिखाये हैं सो ठीक नहीं वेदों में भी साक्षात्परमात्मा से ही देवादि रचना दिखायी गयी है किन्तु अनेक मनुओं से नहीं इस में विशेष विचार वहां ही लिखा जायगा जहां वे पद्य पढ़े हैं॥

आगे इक्यासी श्लोक से ले कर " दानमेकं कलौ० " इस श्लोक पर्यन्त छः श्लोक प्रक्षिप्त हैं। क्योंकि सृष्टि प्रकरण में सत् युगादि में होने वाले धर्म की न्यूनाधिक व्यवस्था करना प्रकरणानुकूल नहीं हो सकती। इस से एक तो प्रकरण विरुद्ध है। द्वितीय किसी समय विशेष में सर्वथा धर्म वा अधर्म ही नहीं ठहर सकता क्योंकि वे दोनों प्रकाश और अन्धकार के तुल्य सापेक्ष हैं। यदि प्रकाश कोई वस्तु न हो तो किस को अन्धकार कहें। जैसे शीत के अभाव से उष्ण का और उष्ण के अभाव में शीत का कोई वस्तु ठहरना असम्भव है। इसी प्रकार सत्य युग में भी अधर्म की स्थिति अवश्य माननी चाहिये तथा तीसरे वेदों में भी "सौ वर्ष देखें। सौ वर्ष आयु वाला पुरुष होता है„ इत्यादि प्रमाण हैं वे सब कलियुग के लिये ही हों यह नहीं हो सकता। ऐसा हो तो अन्य युगों के आयु की भी वेद में व्यवस्था होनी चाहिये। और यह कलियुग के लिये आयु है ऐसा नहीं लिखा इस से सामान्य कर सब युगों के लिये है यही सत्य

जानो। इस कारण वेद से विरुद्ध होने से भी उक्त श्लोक प्रक्षिप्त हैं यह मेरा विचार है ॥

आगे सताशी श्लोक से लेकर एकानवे पर्यन्त पांच श्लोकों में दशमाध्याय के "ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था०" इत्यादि श्लोकों के साथ किसी प्रकार पुनरुक्ति प्रतीत होती है परन्तु वह समाधान करने योग्य है। क्योंकि यहां प्रथमाध्याय में ब्राह्मणादि के कर्मों का विभाग है अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में अपने २ कर्म में सब वर्णों को युक्त करना ही प्रयोजन है। इस ब्राह्मणादि के कर्मविभाग का सृष्टि प्रक्रिया के साथ सम्बन्ध है ऐसा मानकर प्रथमाध्याय में वर्णन है। तथा ब्राह्मणादि वर्णों को आपत्काल में कैसे जीविका करनी चाहिये यह आशय दिखाने के लिये कर्मों का अनुवाद करके दश में अध्याय में वर्णन है। इस प्रकार पुनरुक्ति दोष नहीं जान पड़ता ॥

आगे चौरानवे पंचानवे दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं क्योंकि इन दोनों की इकत्तीश और तिरानवे श्लोक के साथ पुनरुक्ति भी आती है और चौरानवे का यह (सर्वस्यास्य च गुप्तये) अंश भी ८७ श्लोक के साथ पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त है। तथा ब्राह्मण के मुख से देवता और पितृ लोग हव्य कव्य खाते हैं यह भी ठीक नहीं क्योंकि अन्य के मुख से अन्य नहीं खा सकता। होमने योग्य पदार्थ जो सूर्यादि देवों को प्राप्त होते हैं वे ब्राह्मण के मुख द्वारा नहीं किन्तु अग्नि मुख से प्राप्त होते हैं। अर्थात् अग्नि में होमा गया द्रव्य प्रकारान्तर से प्रदेशान्तर को प्राप्त होता है यह न्याय से सिद्ध है। ब्राह्मण ने भोजन किया किसी प्रकार से मेघमण्डल में जाता हो यह नहीं कह सकते। इस लिये अनुमान से जान पड़ता है कि अन्य के भोजन की प्रतिक्षण तृष्णा रखने वाले भोजनभट्ट उदरम्भर नाममात्र ब्राह्मणों ने ही ऐसे श्लोक बनाकर मिलाये हैं। केवल तिरानवे श्लोक में यथोचित प्रशंसा ब्राह्मण की कीयी गई है ॥

तथा अठानवे से लेकर एक सौ एक पर्यन्त प्रक्षिप्त हैं। उन श्लोकों का एकदेशी होना तो प्रसिद्ध ही है। इन श्लोकों में अनुचित पुनरुक्त असम्बद्ध पक्षपात वा स्वार्थपरक ब्राह्मण वर्ण की प्रशंसा है जिस से ये भी चार श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं इस पर विशेष विचार भाष्य में होगा। तथा एक सौ दो श्लोक से लेकर एक सौ छः श्लोक पर्यन्त निष्प्रयोजन वा अल्पप्रयोजन परक श्लोक हैं। तथा किसी प्रकार असम्बद्ध, पक्षपात युक्त और वेद से विरुद्ध तथा

आत्मश्लाघा दोष वा अत्यन्त प्रशंसारूप दोष से युक्त हैं इस कारण तुच्छ होने से पीछे किन्हीं स्वार्थियों ने मिलाये ऐसा अनुमान होता है।

आगे एक सौ सात से लेकर एक सौ दश पर्यन्त चार श्लोक चतुर्थाध्याय के १५५। १५६। श्लोकों के साथ पुनरुक्त जान पड़ते हैं। तो भी चतुर्थाध्याय के उक्त दो श्लोकों पर सब से पहिले भाष्यकर्त्ता मेधातिथि का भाष्य नहीं मिलता तिस से अनुमान होता है कि मेधातिथि के भाष्य करने समय में वे दोनों श्लोक चतुर्थाध्याय में नहीं थे यदि भाष्य किया होता तो क्यों नहीं मिलता। इस से प्रथमाध्यायस्थ आचारप्रतिपादक चारो श्लोक प्रक्षिप्त नहीं ऐसा जान पड़ता है। आगे एकसौ ग्यारह श्लोक से लेकर सब ग्रन्थ का सूचीपत्र कहा गया है उस में कुछ विरोध नहीं है। इन दोनों प्रकार के मिला कर एक सौ उन्नीश श्लोक इस प्रथमाध्याय में मिलते हैं। उन में उक्त प्रकार मेरी सम्मति से प्रक्षिप्त समझे गये यदि २६ छब्बीस श्लोक प्रक्षिप्त ठहरें तो शेष तिरानवे श्लोक शुद्ध ऋषिकृत मानने चाहिये॥

अथ द्वितीयाध्यायसमीक्षणम्॥

द्वितीयाध्यायादारभ्य षष्ठाध्यायपर्यन्तं गर्भाधानादिवेदोक्त-वेदमूलकषोडशसंस्काराणां वर्णनम्। संस्काराणां षोडशत्वे व्यास-स्मृताविदमुक्तम्—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रिया निष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया।
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः।
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः॥

अत्र षोडशसंस्काराः परिगणितास्तेषु केशान्तसंस्कारस्यैकदेशी-यत्वमनुमीयते। दशकर्मपद्धतिकृताऽपि केशान्तः संस्कारो नाङ्गी-कृतः। तत्रभवता दयादिस्वामिनापि केशान्तः संस्कारो न स्वीकृतः।

यदि व्याससंहितायामपि केशान्तशब्दाग्रे विसर्गं प्रामादिकं मत्वा केशान्तशब्दः स्नानस्य—समावर्त्तनस्य विशेषणं तदा संस्काराणां षोडशत्वं दुर्लभं पञ्चदशत्वमेव स्यात्तच्चानिष्टम् । मनुस्मृतौ तु केशान्तः संस्कारोऽभिमतोऽस्ति—केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयतेइत्यादिना—तेन दयादिस्वामिना तु संन्यासान्त्येष्टिसंस्कारौ द्वावधिकावूरीकृतौ तेन तदीयगणने संस्काराणां सप्तदशत्वमापद्यते । तत्र कस्यचित्कुत्राप्यन्तर्भावं कृत्वाऽन्यप्रकारेण वा समाधेयं भविष्यति । अर्थात्संस्काराणां षोडशत्वं सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धम् । नास्ति तत्र काचिद्विप्रतिपत्तिः । यद्यपि दशकर्मपद्धतिकृद्भिः पण्डितैर्दशैव कर्माण्युक्तानि तथापि नैव तैः षोडशत्वं कथमपि खण्डितमपि तूपनयनवेदारम्भस्नानानां त्रिसंस्काराणामेकत्वमेवोक्तम् । तेन द्वादशत्वमायाति । समयानुकूलं वानप्रस्थाश्रमादिधारणस्य प्रवृत्तिर्नास्ति । इति मत्वा दशकर्मपद्धतौ नैव धृतानीति तत्र न्यूनत्वमेव । यस्य शुभकर्मणः प्रवृत्तिर्नो स्यात्तस्य तु विशेषतया कार्य्या । एवं संस्काराः षोडशैव मन्तव्याइति राद्धान्तः ॥

व्याससंहितायां पठितेन त्रेताग्निसंग्रहशब्देन वानप्रस्थसंस्कारस्य ग्रहणमायास्यति तत्र च संन्यासस्याप्यन्तर्भावः स्यादिति सम्भवति । इत्थं चान्त्येष्टिरित्येकएव संस्कारो व्याससंहितातोऽवशिष्टो यस्तत्रभवद्भिर्दयादिस्वामिभिः स्वीकृतस्तस्य च संस्कारत्वे—निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिरिति मानवं वचनमेव मानम् । तेनान्त्येष्टेः संस्कारत्वं नामूलम् ॥

एषु षोडशसंस्कारेषु केचित्प्रधाना अपरेऽप्रधानाः । प्रधानानां विशेषतया वर्णनमस्ति । अप्रधानानां च संक्षेपेण वर्णनम् ।

इत्थमस्या मनुस्मृतेर्द्वितीयाध्याये दशपद्येषु गर्भाधानादिचूडान्तसंस्काराणां वर्णनम्। चतुर्दशोत्तरशतद्वयपद्येषु केवलयज्ञोपवीतवेदारम्भसंस्कारयोर्वर्णनम्। अतः संस्कारेष्वनयोरेव सर्वेभ्यः प्राधान्यम्। अत्रैव द्विजत्वं संपद्यते। प्राणिमात्रस्य जगति यावन्ती प्रसिद्धिप्रयोजनानि तेषु सुखस्याभीप्सा दुःखस्य जिहासा च मुख्ये प्रयोजने। अनयोश्च सिद्धौ प्रधानतमं कारणं विद्याभ्यासेनान्तःकरणस्य संस्करणम्। स च विद्याभ्यासो ब्रह्मचर्याश्रमनियमानुष्ठानपुरस्सरं गुरुशुश्रूषापूर्वकं चाविच्छेदेन यावदाश्रमपरिसमाप्तिक्रियमाणः सफलो भवति। स च संसारपरमार्थयोः सुखभाजनं भवति। इत्थं सर्वाश्रमाणां सुखमूलकत्वाद् ब्रह्मचर्यस्य प्राधान्यम्। तदारम्भसूचकत्वाच्च संस्कारयोः। संस्कारो द्विविधः शारीरिक आत्मिकश्च तत्र स्वस्वापेक्षया द्वयोरपि कुत्रकुत्रचित्प्राधान्यं तथाप्यात्मिकसंस्कारस्य सर्वोत्तमसुखहेतुत्वात्सर्वोपरि प्राधान्यम्। इत्थं सर्वोपरि प्राधान्यमभ्युपगम्य द्वितीयाध्याये ससाधनयोर्यज्ञोपवीतवेदारम्भसंस्कारयोर्मुख्यतया वर्णनमस्ति। अस्मिन् धर्मशास्त्रे ब्रह्मचर्याश्रमस्य यथार्थं वर्णनं तत्तु यथावसरं भविष्यति। इतो नात्यस्मिन् विषये किमपि वक्तव्यम्॥

भाषार्थः—अब द्वितीयाध्याय की समीक्षा की जाती है। द्वितीयाध्याय के प्रारम्भ से लेकर षष्ठाध्याय पर्यन्त गर्भाधानादि वेदोक्त तथा वेदमूलक षोड़श संस्कारों का वर्णन है। संस्कार सोलह ही हैं न्यूनाधिक नहीं इस पर व्यासस्मृति में यह लिखा है कि—"गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, मुण्डन, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्त्तन, विवाह, विवाहाग्नि का ग्रहण—चतुर्थी कर्म वा इसी को गृहाश्रमसंस्कार भी कह सकते हैं। और त्रेताग्निसङ्ग्रह तथा इसी का नाम वानप्रस्थ

संस्कार भी कह सकते हैं।" ये सोलह संस्कार शास्त्रकारों ने माने हैं। इन में से केशान्त संस्कार अनुमान से एकदेशी प्रतीत होता है और दशकर्मपद्धति बनाने वाले ने भी केशान्त संस्कार नहीं माना। तथा श्री स्वामिदयानन्दसरस्वती जी ने भी अपनी संस्कारविधि में केशान्त संस्कार नहीं लिया। डाढ़ी मूंछ वा बगलों के बनाने का आरम्भ जिस पहिले दिन हो उसको केशान्त संस्कार कहते हैं। यदि व्यासस्मृति के "केशान्तः स्नानम्" पदों में विसर्ग को अशुद्ध मानें और यह अर्थ मानें कि जिस में सब केश मुड़ा दिये जावें ऐसा स्नानसमावर्त्तन, तो संस्कार सोलह नहीं हो सकते किन्तु १५ ही रहते हैं तथा मनुस्मृति में केशान्त संस्कार माना है कि ब्राह्मण का सोलह वर्ष पर केशान्त हो। तथा व्याससंहिता की अपेक्षा स्वामी जी ने संन्यास और अन्त्येष्टि दो संस्कार अधिक लिये हैं इस कारण उन की संस्कारविधि में सत्रह संस्कार हो जाते हैं। उन में किसी को किसी के अन्तर्गत कर के वा अन्य किसी प्रकार समाधान करना होगा। अर्थात् संस्कार सोलह ही हैं यह तो सर्वतन्त्र सिद्धान्त से सिद्ध है इस में किसी का परस्पर विरोध नहीं है। यद्यपि दशकर्मपद्धति पुस्तक बनाने वाले पण्डितों ने दश ही कर्म कहे हैं तो भी उन्हों ने संस्कारों की सोलह संख्या का खण्डन नहीं किया किन्तु उपनयन, वेदारम्भ और समावर्त्तनरूप तीन संस्कारों को लौकिक चाल के अनुसार एक ही कर्म माना है इस कारण दश कहने से बारह तो आजाते हैं। समय के बिगड़ जाने से वानप्रस्थ और संन्यासधारण तथा अन्त्येष्टिकर्म की प्रवृत्ति नहीं रही ऐसा मान कर दशकर्मपद्धति में उक्त तीनों संस्कार नहीं रक्खे। इस लिये उस में यही न्यूनता है। क्योंकि जिस शुभकर्म की प्रवृत्ति न रही हो वा न्यून हो गयी हो उस की विशेष प्रवृत्ति करनी चाहिये इस प्रकार संस्कार सोलह ही मानने चाहिये यह सिद्धान्त है॥

व्यास संहिता में पढ़े त्रेताग्नि सङ्ग्रह शब्द से वानप्रस्थ संस्कार का ग्रहण हो जायगा। और उस में संन्यास आश्रम भी आ सकता है क्योंकि घर से निकल कर विरक्त होना दोनों में तुल्य है। इस प्रकार अन्त्येष्टि नामक एक संस्कार व्याससंहिता से अधिक बचता है जिस को श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी ने माना है। उस को संस्कार बुद्धि से मानने में "गर्भाधान से श्मशान पर्यन्त जिस के संस्कार वेद से कहे गये हैं" यह मनुस्मृति का वचन ही प्रमाण है। इस कारण अन्त्येष्टि को संस्कार मानना निर्मूल नहीं है। इन सोलह संस्कारों

में कोई प्रधान और कोई गौण हैं। मुख्य संस्कारों का विशेष कर वर्णन है। और गौणों का संक्षेप से। इस प्रकार इस मनुस्मृति के द्वितीयाध्याय के दश श्लोकों में गर्भाधानादि मुण्डन पर्यन्त संस्कारों का वर्णन है और द्वितीयाध्याय के दो सौ चौदह श्लोकों में केवल यज्ञोपवीत और वेदारम्भ संस्कारों का वर्णन है। इन दोसौ चौदह श्लोकों में से एक पैंसठवें श्लोक में केशान्त और ६६। ६७ में स्त्री के संस्कार विषय में सामान्य कथन है। इस कारण संस्कारों में ये ही दोनों सब से मुख्य हैं क्योंकि इन्हीं दोनों संस्कारों के होने से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य द्विज बनते और कहाते हैं। प्राणिमात्र के जगत् में जितने इष्ट सिद्धि के प्रयोजन हैं उन सब में सुख की प्राप्ति और दुःख के त्याग की इच्छा ही मुख्य प्रयोजन है। इन दोनों की सिद्धि में सर्वोपरि प्रधान साधन विद्या के अभ्यास से अन्तःकरण की शुद्धि करना है और वह विद्या का अभ्यास ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों का यथावत् सेवन करने पूर्व क और गुरु की सेवा शुश्रूषा पूर्वक आश्रम की समाप्ति पर्यन्त निरन्तर किया हुआ सफल होता है और वह पुरुष (जिस ने पूर्ण विद्याभ्यास कर लिया है) संसार परमार्थ के सुख भोगने का पात्र बनता है। इस प्रकार सुख का मूल होने से सब आश्रमों में ब्रह्मचर्य आश्रम प्रधान है। और ब्रह्मचर्य आश्रम के आरम्भसूचक होने से संस्कारों (यज्ञोपवीत वेदारम्भ) की प्रधानता है। संस्कार दो प्रकार के हैं। एक शरीर सम्बन्धी और द्वितीय आत्मसम्बन्धी वा अन्तःकरण सम्बन्धी। उन में यद्यपि अपनी २ अपेक्षा से कहीं २ दोनों प्रधान हैं तो भी सर्वोत्तम सुख का हेतु होने से आत्मसम्बन्धी संस्कार सर्वोपरि उत्तम है। कारण यह कि सुख दुःख का आधार अन्तःकरण है और दुःख का मूल कारण अज्ञान है और अन्तःकरण में विद्यारूप छौंक लग जाने से अज्ञान निवृत्त हो जाता है तभी दुःखों से भी मनुष्य बच सकता है। इस प्रकार आत्मिक संस्कार की सर्वोपरि उत्तमता मान कर द्वितीयाध्याय में साधनों सहित यज्ञोपवीत और वेदारम्भ संस्कारों का मुख्यकर वर्णन है। इस मानवधर्मशास्त्र के द्वितीयाध्याय में ब्रह्मचर्याश्रम का यथार्थ वर्णन है सो आगे आवेगा इस कारण इस विषय में यहां कुछ विशेष कथनीय नहीं ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रक्षिप्तसमीक्षा ॥

अत्र व्यूलरसाहवेनोक्तम्–यद्यपि द्वितीयाध्यायादारभ्य षष्ठाध्यायपर्यन्तं सर्वं कथनं धर्मसूत्रानुकूलमस्ति तथापि मध्ये कुत्रकुत्रचित्

पश्चात्प्रक्षिप्तमित्यनुमीयते तद्यथा—द्वितीयाध्याये प्रारम्भादेकादश पद्यानि पश्चात् कैश्चित्प्रक्षिप्तानि। पञ्चावधि पद्यानि कस्मिन्नपि धर्मशास्त्रे न सन्ति। षष्ठः पुनरुक्तो द्वादशपद्येन तस्यार्थस्योक्तत्वात्। सप्तमे आत्मश्लाघा दोषः। अष्टमनवमयोः फलश्रुतिः। दशमैकादशयोस्तर्कनिषेधदोषः। एवमादिमान्येकादश क्षिप्तानि।

अस्योत्तरम्—नायं नियमः कर्त्तुं शक्यते यदेकस्मिन्धर्मशास्त्रेऽस्ति सर्वेषु नास्ति तत्प्रक्षिप्तं स्यात्। नहि सर्वे समानमेव वक्तुमर्हन्ति। अधुनापि पुस्तकनिर्मातारो विद्वांस एकस्मिन्नेव विषये स्वंस्वमनुभवमनुसृत्य न्यूनाधिकं लिखन्ति कथयन्ति वा। तत्र नैव कस्यचित्कथनं प्रामादिकं प्रक्षिप्तं वेति वक्तुं शक्यते। यत्प्रकरणविरुद्धं धर्मविरुद्धं पक्षपातग्रस्तं वा तदेव प्रक्षिप्तम्। नह्यन्यस्मादधिकं प्रक्षिप्तं भवति।

यच्च षष्ठद्वादशयोः पौनरुक्त्यं प्रतिभातीत्युक्तं तदपि न सम्यक् तयोस्तात्पर्यभेदात्। कथंचित्पुनरुक्तौ चानुवादोपपत्तेश्च। षष्ठपद्ये धर्मस्य मूलं प्रदर्शितम्। द्वादशे तु साक्षाद्धर्मस्य स्वरूपम्। षष्ठे तु स्वस्य मनोर्मतं प्रदर्शितम्। द्वादशे तु स्वमतमनूद्यान्येषां च सम्मतिः स्वमतपोषणायाहुरिति क्रियया प्रदर्शिता। एवंसति नास्ति पुनरुक्तिदोषः। सप्तमं पद्यं कथंचिदात्मश्लाघादोषग्रस्तं प्रतिभाति। तत्रापि भृगुणा मनोः प्रशंसा कृतेति नात्मश्लाघा। तस्य भृगोरयमाशयः—अस्य धर्मशास्त्रस्याध्येतारो मनसि गौरवमाधाय पठन्तु विदन्तु वा न तु सहसा वेदविरुद्धमनुमिनुयुः। अष्टमनवमयोः फलश्रुतिरर्थवादो रुच्यर्थः। स्तूयमानमर्थं मनुष्याः श्रद्दधति। तस्मादर्थवादः सफलएव। दशमैकादशपद्ये तर्कस्य निवर्त्तके नस्तोऽपि तु तादृशास्तर्को न कार्यो

येन वेदस्य तदनुकूलायाः स्मृतेर्वा खण्डनं स्यात् । यद्वा यादृशं तर्कं बौद्धा आश्रयन्ति सौगता वा तादृशस्तर्को न कार्यः । यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरइति द्वादशाध्यायस्थपद्येन सूच्यते धर्मरक्षणाय धर्मप्रतिपादनाय वा तर्कः प्रयोज्यो, न तु धर्मस्य धर्मप्रतिपादकशास्त्रस्य वा खण्डनायेति द्वितीयाध्यायस्थदशमैकादशपद्याभ्यां सूच्यते । यथा शस्त्रं दुष्टघातायैव प्रयोज्यं न तु स्वशरीरच्छेदायेति । यथा शस्त्रेण सर्वस्योचितानुचितस्य छेदनं भवितुमर्हति। यथा वा गम्यागम्ययोरुभयोरपि मैथुनं भवितुमर्हति परन्तूचितस्य छेदनं गम्यायां च मैथुनं कार्यमिति विधीयते शास्त्रेषु । तथैव तर्केणोचितस्यैव खण्डनं कार्यम् । रक्षणोचितस्य धर्मस्य धर्मशास्त्रस्य वा रक्षणमिति तात्पर्यम् ।

त्रयोदशाद्यनेकपद्यानि द्वितीयाध्याये व्यूलरसाहवेनान्यधर्मशास्त्रादधिकानीत्युक्तं तस्योत्तरं तु मया दत्तम् । कस्माच्चिदिदमधिकमतो दूषितं स्यादिति न सम्भवतीति । अस्मिन्नध्याये व्यूलरसाहबकथनानुकूलमष्टाशीतिपद्यादारभ्य शतावधि प्रकरणविरुद्धत्वात्प्रक्षिप्तानीति प्रतिभाति । एतत्पद्येभ्यः पूर्वं परं च सन्ध्यायाः प्रकरणं मध्ये जितेन्द्रियत्वस्य कथनमिन्द्रियाणां परिगणनं निरोधोपायश्चेत्येवमादिकं कथनं विरुध्यते । तस्य विषयस्य मानवधर्मसूत्रेषु वर्णनं नासीदासीच्चेदतिसंक्षेपतः । किन्तु भृगुणा पद्यनिर्माणावसरं विस्तरेण वर्णितइत्यनुमीयते । सन्ध्याकर्मणि च जितेन्द्रियताया महानुपयोगः । नह्यजितेन्द्रियः पुरुषः सन्ध्याफलभाग्भवितुमर्हति । तस्मात्तानि त्रयोदशपद्यानि यद्यपि मनुप्रोक्तानि न सन्ति तथापि तत्र धर्मेण वेदेन वा विरोधः पक्षपातो वा नोपलभ्यते

येन तानि कथं चिद्दूषितानि स्युः । एवमत्र व्यूलरसाहवेन यदुक्तं तस्योत्तरं बोध्यम् ।

द्विपञ्चाशत्तमं पद्यं चिन्त्यम् । नह्येतत्सम्भवति—यदायुष्कामः प्राङ्मुखो भुञ्जीत यशःकामो दक्षिणामुखः । श्रीकामः प्रत्यङ्मुखः सत्यकामश्चोदङ्मुखइति । चतस्रएव च यदा काष्ठास्तदा कस्यामपि दिशि मुखं कृत्वैव भोक्तुमर्हति । यद्येतत्सम्भवति तर्हि सर्वे फलचतुष्टयभाजो भवेयुस्तच्च प्रत्यक्षविरुद्धम् । यदि प्रथमयाचितया भिक्षाया भोजने ब्रह्मचारिण इदं फलमिति चेत्तत्रापि सएव दोषः । पद्यरचनप्रकारोऽपि सम्यङ्नोपलभ्यते । नहि ब्रह्मचारिणोऽन्ये वा मनुष्यास्तादृशाः फलभाज उपलभ्यन्ते विपरीतास्तु बहवो दृश्यन्ते तस्मादनुमीयते प्रक्षिप्तं पद्यमिदम् ।

षट्षष्टितमं पद्यमपि चिन्त्यम् । जातकर्मादयः संस्काराः कन्यानां मन्त्रपाठविहीनाः कार्याः किमर्थमिदम् ? । यदि शरीरस्य संस्कारे मन्त्रपाठोऽपि हेतुस्तर्हि संस्कारार्थं शरीरस्येति कथनं विरुध्यते । यदि कथंचिन्मतं स्यात् स्त्रियः शूद्रवन्निकृष्टा वेदस्य श्रवणाधिकारिण्यो न भवन्ति तर्हि तासां विवाहेऽपि मन्त्रैः संस्कारो न कार्यस्तत्रापि ताः श्रोष्यन्ति । विवाहे तु यदा ताभिर्मन्त्रपाठं कारयितुमाज्ञापयन्ति पुनः श्रवणस्य का कथा । एतेनानुमीयते मन्त्रश्रवणे पाठे वा स्त्रीणां दोषो नास्ति । अनेकेष्वार्षपुस्तकेषूपलभ्यते—स्त्रीणां मन्त्रविहीना जातकर्मादयः संस्काराः कार्याइति तेनानुमीयते पुरातनकालेऽपि केषांचिदृषीणामियमनुमतिरासीदिति । तस्याश्चैकदेशित्वान्न सर्वग्राह्या । अपि तु वैदिकोऽपि सिद्धान्तोऽयं भवितुं नार्हति । यदि वेदपाठस्य श्रवणस्य वा स्त्रीणामधिकारो न

स्यात्तर्हि वेदेऽपि प्रतिषेध उपलभ्येत स तु न दृश्यते। यदि कश्चिद् ब्रूयाद् वेदे विधानमपि नोपलभ्यते तर्हि यादृशं विधानं पुरुषार्थमुपलभ्यते तादृशमेव तदर्थमप्यस्ति। यानि कर्माणि वेदादिशास्त्रेषु ब्राह्मणादिवर्णानां कर्त्तव्यत्वेनोपदिष्टानि तानि तत्तत्स्त्रीभ्योऽपि तथैव बोध्यानि। स्त्री च पुरुषस्यार्द्धाङ्गी तस्माद्यत्र पुरुषस्याधिकारस्तत्रतत्र तत्स्त्रियाअपि। यदा च स्त्रीशरीरादेव निर्मितानां बालानामधिकारो भवति तर्हि तदुपादानकारणीभूतानामधिकारो न स्यादिति पक्षपातः प्रमादोऽवा किंनास्ति?। याश्च वेदान् शास्त्राणि वा पठितुमशक्तास्तासामधिकारो नास्तीति कश्चिद्वदेत्तर्हि तादृशपुरुषाणामप्यधिकारो नास्ति। स्त्रीभ्योऽधिकारादानात्पुरुषा अपि विद्याबुद्धिविहीना हीनसंस्कारा स्त्रीवन्नीचप्रकृतय उत्पद्यन्ते। अयमेवैतद्देशदुर्दशाया महान् हेतुः। पूर्वं यदा विद्याशिक्षादिप्रापणेन स्त्रीणां संस्कारः क्रियते तदा संस्कृतासु तासु बाला अपि संस्कृताः शुभगुणान्विता जायन्ते तथाचोक्तं सुश्रुतस्य शारीरे—"आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ। स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः" अहाराचारचेष्टाश्च विद्याशिक्षानुकूला जायन्ते तस्मात्स्त्रीभ्यो वेदादिशास्त्राणि पाठ्यानि श्राव्याणि च येन मूले संस्कृते वृक्षस्य संस्कारः स्यात्। इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते। इतिमानववचनेन ज्ञायतेऽन्नस्य पृथिवीव मनुष्याणामुत्पादिका स्त्री। पुरुषशरीरे यावान् रसरुधिरमांसादिर्धातुसमुदायः स सर्वो बाल्यावस्थायां मातुः शरीरादेवायातः सा यदि कथमपि निकृष्टास्ति तर्हि बालस्योत्तमत्त्वे को हेतुः। इत्थं पुरुषवत् स्त्रीणामप्यधिकारे सिद्धे षट्षष्टितमं पद्यं प्रक्षिप्तमिति प्रतिभाति। वक्ष्यमाणसप्तषष्टि पद्येन

साकं विरोधाच्च । अर्थात्सप्तषष्टितमे पद्ये मनुना स्त्रीणां सर्वं कृत्यं वैदिकमुक्तम् । विशेषो यथावसरं वक्ष्यते । विरम्यतेऽधुनाऽधिकजल्पनात् ॥

भाषार्थः—अब द्वितीयाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा करते हैं । इस अध्याय पर व्यूलरसाहब ने कहा है कि "यद्यपि द्वितीयाध्याय से ले कर षष्ठाध्यायपर्यन्त सब कथन मनुस्मृति में धर्मसूत्रों के अनुकूल है तो भी बीच २ कहीं २ पीछे से श्लोक मिलाये गये जान पड़ते हैं । जैसे इस द्वितीयाध्याय में प्रारम्भ से ११ ग्यारह श्लोक पीछे किन्हीं ने मिलाये हैं अर्थात् १–५ तक श्लोक किसी धर्मशास्त्र के आशय से नहीं पाये जाते । छठा श्लोक पुनरुक्त है क्योंकि बारहवें में यही बात कही गयी है जो छठे में है । सातवें पद्य में आत्मश्लाघा दोष है अर्थात् अपनी आप ही प्रशंसा की है । आठवें और नववें श्लोक में फल दिखाया गया है तथा दशवें ग्यारहवें श्लोकों में तर्क का निषेधरूप दोष आता है क्योंकि धर्म विषय की तर्क से अवश्य परीक्षा करनी चाहिये इस प्रकार आदि के ११ श्लोक प्रक्षिप्त हैं" इत्यादि ।

इस का उत्तर यह है कि यह नियम नहीं कर सकते कि जो एक किसी धर्मशास्त्र में हो और सब में न हो वह प्रक्षिप्त माना जावे । क्योंकि सब लोग बराबर नहीं कह सकते अर्थात् आप ही पहिले कही बात का प्रत्यक्षर अनुवाद कोई नहीं कर सकता । इस समय भी पुस्तक बनाने वाले विद्वान् लोग एक ही विषय में अपने २ अनुभव को लेकर न्यूनाधिक लिखते वा कहते हैं उन में किसी का कथन प्रक्षिप्त वा प्रामादिक नहीं समझा जा सकता । किन्तु जो प्रकरण विरुद्ध, धर्मविरुद्ध वा पक्षपात युक्त हो वही प्रक्षिप्त है किन्तु किसी अन्य की अपेक्षा अधिक कथन प्रक्षिप्त नहीं है ।

और जो छठे बारहवें श्लोक में पुनरुक्त दोष दिया सो भी ठीक नहीं क्योंकि उन दोनों के अभिप्राय में भेद है और कदाचित् पुनः वही बात कही भी गयी हो तो अनुवादार्थ मानने में दोष नहीं । छठे श्लोक में धर्म का मूल दिखाया और बारहवें में साक्षात् धर्म का स्वरूप कहा है । छठे में मनु जी का मत दिखाया गया है और बारहवें में अपने मत का अनुवाद कर के अपना मत पुष्ट करने के लिये अन्य लोगों की सम्मति "आहुः" क्रिया से दिखायी है इस

प्रकार मानने से पुनरुक्ति दोष नहीं आता। सातवां श्लोक किसी प्रकार आत्मश्लाघा दोष से युक्त हो तो वहां भी भृगु ने मनु जी की प्रशंसा की है इस से आत्मश्लाघा नहीं है। मनु जी की प्रशंसा करने से भृगु का अभिप्राय यह है कि इस मानवधर्मशास्त्र के पढ़ने वाले लोग मन में गौरव रख के इस शास्त्र को पढ़ें विचारें किन्तु सहसा वेद विरुद्ध न मान लेवें। आठवें नवएं श्लोकों में जो फल श्रुति है वह रुचि बढ़ने के लिये अर्थवाद है। जिस वस्तु की गुण कीर्त्तन रूप स्तुति की जाती है उसमें मनुष्य श्रद्धा करते हैं इस लिये अर्थवाद सफल ही है। दशवें ग्यारहवें श्लोक तर्क के निषेध करने वाले नहीं हैं किन्तु आशय यह है कि वैसा तर्क न करना चाहिये जिससे वेद और वेदानुकूल स्मृति का भी खण्डन हो जावे अथवा बौद्ध वा सौगत आदि नाम वाले नास्तिक लोग जैसे तर्क का आश्रय लेते हैं वैसा तर्क नहीं करना चाहिये। "जो तर्क के साथ आन्दोलन करता है वह ठीक धर्म को जान लेता है अन्य नहीं" इस प्रकार कहे बारहवें अध्याय के वचन से सूचित होता है कि धर्म की रक्षा और धर्म को सिद्ध करने के लिये तर्क करना चाहिये किन्तु धर्म वा धर्म को कहने वाले शास्त्र के खण्डन के लिये तर्क नहीं करना चाहिये यह बात इस द्वितीयाध्याय के दश ग्यारह श्लोकों से जतायी गयी है। जैसे दुष्ट को मारने के लिये शस्त्र चलाना चाहिये किन्तु अपना शरीर काटने के लिये नहीं। जैसे शस्त्र से सब उचित अनुचित्त का छेदन हो सकता है वा जैसे गम्या अगम्या दोनों में मैथुन हो सकता है पर तो भी उचित का छेदन और गम्या में मैथुन करना चाहिये यह शास्त्रों में विधान किया गया है। वैसे ही तर्क से उचित का खण्डन करना चाहिये तथा रक्षा करने योग्य धर्म वा धर्मशास्त्र की रक्षा करनी चाहिये यह तात्पर्य है।

तेरह आदि अनेक श्लोक द्वितीय अध्याय में व्यूलरसाहब ने अन्य धर्मशास्त्र से अधिक कहे हैं। इस का उत्तर भी मैंने दे दिया है। परन्तु किसी से यह अधिक है इस लिये दूषित है यह नहीं हो सकता। तथा इस द्वितीयाध्याय में व्यूलरसाहब के कथनानुसार अठासी श्लोक से ले कर सौ श्लोक पर्य्यन्त प्रकरण विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं ऐसा प्रतीत होता है। इन ८८—१०० पद्यों के पूर्व और पर सन्ध्या का प्रकरण है। बीच में जितेन्द्रियता का प्रसंग इन्द्रियों का परिगणन, अवान्तर भेद और उन को विषयों से रोकने का उपाय इत्यादि कथन विरुद्ध है उस विषय का मानवधर्मसूत्रों में वर्णन नहीं था और था तो

प्रति संक्षेप से था उसी को भृगु ने पद्य बनाते समय विस्तार पूर्वक वर्णन किया ऐसा अनुमान होता है। और सन्ध्या कर्म में जितेन्द्रियता का भी बड़ा उपयोग है क्योंकि जिस के वश में अपने इन्द्रिय नहीं वह सन्ध्या के फल का भागी कदापि नहीं हो सकता इस कारण यद्यपि उक्त तेरह श्लोकों का आशय मनु जी का कहा नहीं था तथापि उन में धर्म से वा वेद से विरोध वा पक्षपात नहीं प्रतीत होता जिस से वे श्लोक किसी प्रकार दूषित कहे जावें। इस प्रकार व्यूलरसाहब ने द्वितीयाध्याय पर जो कुछ कहा है उस का उत्तर जानो।

इस अध्याय में बावनवां श्लोक भी विचारणीय है अर्थात् इस श्लोक में जो बात कही है कि "अवस्था चाहने वाला पूर्व को मुख कर, यश चाहने वाला दक्षिण को, लक्ष्मी चाहने वाला पश्चिम को और सत्य चाहने वाला उत्तर को मुख कर भोजन करे" यह असम्भव है क्योंकि जब चार ही दिशा हैं तो कभी किसी और कभी किसी दिशा में मुख कर के भोजन करना ही पड़ेगा। तो प्रत्येक मनुष्य सब दिशाओं में मुख कर के भोजन कर सकते हैं यदि वैसा फल होना सम्भव हो तो सभी मनुष्य चारो फल के भागी होवें पर यह बात प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध है अर्थात् प्रत्यक्ष में सब मनुष्यों में वैसे फल नहीं दीखते अर्थात् प्रायः पश्चिम को मुख कर भोजन करने वाले सैकड़ों दरिद्री दीख पड़ते हैं। यदि कहो कि यज्ञोपवीत होते समय प्रथम मांगी हुई भिक्षा के भोजन में ब्रह्मचारी को यह फल होता है ऐसा मानने पर भी वही दोष है। अर्थात् ब्रह्मचारी भी किसी दिशा को मुख कर स्वयमेव भोजन करेगा तो किसी न किसी प्रकार फल सब को होना चाहिये सो भी ठीक सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि ब्रह्मचारी वा अन्य मनुष्य वैसे फलभागी नहीं मिलते किन्तु अल्पायु और दरिद्रादि विपरीत तो दीख पड़ते हैं इस से अनुमान होता है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

इस द्वितीयाध्याय का छासठवां श्लोक भी विचारणीय है। उस में लिखा है कि कन्याओं के जात कर्मादि संस्कार बिना मन्त्र पढ़े करने चाहिये इस पर शङ्का होती है कि ऐसा क्यों करे? यदि शरीर के संस्कार में मन्त्र पाठ भी हेतु है तो शरीर का संस्कार वा शुद्धि होने के लिये सब क्रिया ज्यों की त्यों करे यह कथन विरुद्ध पड़ता है क्योंकि शुद्धि के लिये उपाय करना कहा जावे और शुद्धि के हेतु मन्त्र पढ़ने का निषेध किया जाय यह परस्पर विरुद्ध है। यदि कदाचित् मानते हों कि शूद्र के तुल्य स्त्रियां नीच हैं इस से उन को वेद के सुनने

का अधिकार नहीं तो विवाह में भी उन का मन्त्रों से संस्कार नहीं करना चाहिये क्योंकि वे मन्त्र सुन लेंगी। विवाह में जब स्वयमेव स्त्रियों को मन्त्र बोलने की आज्ञा देते हैं। तो सुनने की क्या कथा है। इस से अनुमान होता है कि मन्त्र सुनने वा बोलने में स्त्रियों को दोष नहीं है। यह बात अनेक आर्ष पुस्तकों में अर्थात् कहीं २ कर्मकाण्ड सम्बन्धी गृह्यसूत्रादि में भी मिलती है कि स्त्रियों के जात कर्मादि संस्कार मन्त्र विना पढ़े करने चाहिये इस से अनुमान होता है कि पूर्वकाल में भी किन्हीं २ ऋषि लोगों की ऐसी सम्मति होगी। परन्तु उस सम्मति के एकदेशी होने से सब को ग्राह्य नहीं अर्थात् सब ऋषियों का ऐसा मत नहीं है। और वेद सम्बन्धी सिद्धान्त भी यह नहीं हो सकता। यदि वेद पढ़ने वा सुनने का स्त्रियों को अधिकार न हो तो वेद में भी निषेध मिलना चाहिये सो नहीं दीखता। यदि कोई कहे कि वेद में स्त्रियों को वेद पढ़ाना चाहिये ऐसा विधान भी नहीं मिलता तो उत्तर यह है कि जैसा विधान पुरुषों को मिलता है वैसा ही स्त्रियों के लिये है अर्थात् जैसे कहा गया कि वेद पढ़ना चाहिये तो जिन२ पुरुषों को पढ़ना आवेगा उन २ की स्त्रियों को भी पढ़ाना अवश्य उपयोगी है। इस प्रसङ्ग में प्रमाणों का संग्रह इस लिये नहीं किया कि यह लेख अधिक न बढ़ जावे। पीछे किसी अवसर पर कुछ प्रमाण भी लिख देंगे। जो२ कर्म वेदादिशास्त्रों में ब्राह्मणादि वर्णों को कर्त्तव्य मान कर कहे गये हैं वे उन २ की स्त्रियों को भी वैसे ही कर्त्तव्य हैं क्योंकि स्त्री पुरुष की अर्द्धाङ्गी है। स्त्री पुरुष दोनों मिल कर पूरे हैं एक २ अधूरे हैं तो जो काम पुरुष के लिये कहा गया उस के अच्छे बुरे फल में स्त्री स्वयमेव अधिकारिणी हो सकती है इस लिये जहां पुरुष को अधिकार है वहां उस की स्त्री को भी अवश्य होना चाहिये। जब स्त्री के शरीर से बने हुए बालकों को अधिकार है तो उन बालकों की उपादानकारण स्वरूप स्त्रियों को अधिकार न माना जावे यह पक्षपात मात्र है। अथवा क्या यह बड़ा प्रमाद नहीं? कदाचित् कहो कि जो स्त्रियां वेदादिशास्त्र पढ़ने में असमर्थ हैं उन को अधिकार नहीं है तो वैसे असमर्थ निर्बुद्धि पुरुषों को भी अधिकार नहीं है। स्त्रियों को अधिकार न देने से पुरुष भी विद्या बुद्धि रहित बिगड़े संस्कारों वाले स्त्रियों के तुल्य नीचप्रकृति उत्पन्न होते हैं। यही इस देश की दुर्दशा का बड़ा हेतु है। पहिले जब विद्या और धर्मनीति की शिक्षादि को प्राप्त करा के स्त्रियों का शारीरिक वा आत्मिक

संस्कारकिया जाता है तो उन शुद्ध संस्कार को प्राप्त हुई स्त्रियों में बालक भी शुद्ध संस्कारी शुभगुण सम्पन्न उत्पन्न होते हैं। यही बात सुश्रुत, के शारीर स्थान में कही भी है कि "स्त्रीपुरुष जैसे भोजन छादन, आचरण और चेष्टा के साथ गर्भाधान समय में संयोग करते हैं उन का पुत्र भी वैसे आचरण वा चेष्टा वाला होता है" मनुष्य के आहार आचरण और चेष्टा विद्या शिक्षा के अनुसार होते हैं अर्थात् विद्वान् और मूर्ख दोनों एक से आचार विचार नहीं रख सकते किन्तु स्वयमेव चेष्टादि बदल जाते हैं। इस लिये स्त्रियों को वेदादिशास्त्र पढ़ाने और सुनाने चाहिये जिस से मूल के संस्कार युक्त होने से वृक्षरूप पुत्रादि संस्कारी हों। "यह स्त्री प्राणियों के उत्पन्न होने के लिये खेत के तुल्य पृथिवी है" अर्थात् जैसे पृथिवी में सब अन्नादि उत्पन्न होते हैं वैसे स्त्रीरूप खेत में मनुष्यादि प्राणी उत्पन्न होते हैं प्राणियों की उत्पत्ति का खेत स्त्री है यह आशय ऊपर कहे मनु जी के वाक्य से निकलता है। पुरुष के शरीर में जितना रस रुधिर आदि धातुओं का समूह है वह सब बाल्यावस्था में प्रथम माता के शरीर से आया है वह मातारूप स्त्री यदि किसी प्रकार नीच ठहराई जावे तो बालक के उत्तम होने में क्या हेतु है ?। इस प्रकार पुरुष के तुल्य स्त्रियों का भी पठन पाठन में अधिकार सिद्ध होने पर छासठवां श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। तथा आगे कहे सरसठ श्लोक के साथ विरोध भी है। अर्थात् सरसठवें श्लोक में मनु जी ने स्त्रियों के सब कर्म वैदिक कहे हैं। इस में विशेष होगा सो वहां यथावसर कहेंगे। इस प्रकार इस द्वितीयाध्याय में दो ही श्लोक प्रक्षिप्त ठहरते हैं तो शेष २४७ श्लोक ठीक समझने चाहिये। अब यहां लिख ना समाप्त करते हैं॥

अथ गृहाश्रमविचारे विवाहनियोगपुनः-संस्काराणां विवेचनम् ॥

ब्रह्मचर्याश्रमसेवनानन्तरं मनुष्येण गृहाश्रमः कार्यस्तत्र विवाहकरणमेव गृहाश्रमस्य मुख्यं स्वरूपम्। अतएव गृहे तिष्ठतीति गृहस्थइति निर्वचने गृहशब्दः सद्मपर्यायो नास्ति स्याच्चेद्वानप्रस्थो ब्रह्मचारी च द्वावपि कस्मिंश्चित्सद्मन्येव तिष्ठतस्तदा तयोरपि

गृहस्थसंज्ञा स्यात्। यद्वा यतिरपि कस्यचित्सद्मनि कदाचित्तिष्ठेत्तदा तस्यापि गृहस्थइति नाम स्यात्। तस्मात्कान्तायाः पर्यायवाचको गृहशब्दः। गृहे भार्य्यायाः समीपे तिष्ठति स गृहस्थः। भार्यया सम्बन्धश्च विवाहः। पतिपत्नीभावेन स्त्रीपुरुषयोरितरेतरं मानसो वाचिकः कायिकश्च सम्बन्धो विवाहपदवाच्यः। तस्य चाष्टौ प्रकाराएव मनुष्यजातौ भवितुमर्हन्ति तेषां च ब्राह्मादयःसंज्ञाशब्दाः। तेषां च यथावसरं व्याख्यानं द्रष्टव्यम्। तत्रैकपुरुषेणैकयैव सह विवाहसम्बन्धः कार्यइति "क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे" इत्यादिवेदमन्त्रेषु द्विवचनग्रहणादेव प्रतीयतेऽयमेव वेदस्य सिद्धान्तइति। अयमेव च सनातनो धर्मइति। एवं सति ये केचित्कामासक्ताः सवर्णाऽसवर्णाभिरनेकाभिः सार्द्धमुद्वाहं कुर्वन्ति ते वेदविरुद्धमाचरन्ति। यैश्चैवं कृतं तैश्च वेदविरुद्धमाचरितमिति सिद्धम्। तथापि ये कामासक्ताः सामान्येनागम्यागमनं कुर्वन्ति पण्ययोषितो वा सेवन्ते तदपेक्षयाऽनेकविवाहकर्त्तारः कामिनः सुखिनो धर्मात्मानश्च सन्ति। एवं कामिपुरुषाणां महापातकान्निरोधार्थमयमुपायः केषांचिन्मतं वास्ति। यदनेकाभिः सह विवाहः कार्यः। अर्थादगम्यागमनापेक्षया पण्ययोषित्सेवनापेक्षया च कामासक्तपुरुषैरनेकविवाहैर्विवाहकरणं वरम्। न तु सनातनैकस्त्रीसेव्यपेक्षयेति। अतएव मनुनाप्युक्तम्—कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः। तत्र पक्षद्वयम्—सवर्णाभिः कतिचिद्भिरसवर्णाभिर्वा विवाहः कार्यः। सवर्णानामनेकासामभावेऽप्राप्तौ वाऽसवर्णाभिः कामिभिर्विवाहः कार्यस्तत्र ब्राह्मणेन क्षत्रियावैश्याशूद्राभिः सह कार्यइति केषांचिन्मतमपरेषां मन्वादीनां मतेतु शूद्रया साकं ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां कदापि विवाहो न कार्यइति।

धर्मात्मनां मानवधर्मशास्त्रस्य च सिद्धान्तः। यद्यपि नीतिमतां कथनानुकूलं विवाहस्य–भार्यासम्बन्धस्य द्वे फले। यथा–रतिपुत्र-फला नारीत्यादिनोच्यते। परन्तु धर्मशास्त्राणां सिद्धान्तेन सन्तानोत्पत्तिरेव मुख्यं फलम्। रतिफलकाङ्क्षिणश्च धार्मिका भवितुं नार्हन्ति—यथोक्तम्—अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते। ये चार्थे धनादिप्राप्तौ कामभोगे चासक्तास्तृष्णापरिप्लुतास्तेषां धर्मज्ञानं न भवति। अनेन भार्यासम्बन्धे सति यदि पुत्रादीनामुत्पत्तिः स्यात्तदा गृहाश्रमसाफल्यमन्यथा च नैष्फल्यम्। तथा चोक्तम्। शोच्यं मैथुनमप्रजम्। अतो विवाहकरणात्पूर्वमेव मनसि फलानुसन्धानार्थं प्रशस्यापत्यजननार्थं चोपायाः प्रदर्शिताः। इदमित्थं क्रियमाणं सफलं सुफलं च भविष्यति। विपरीतफलप्रतिषेधार्थं चोक्तमेवं भूतया कन्यया विवाहो न कार्यइत्यादि॥

सम्यग्विचारेणापि कृते भार्यासम्बन्धे यदि कथमपि फलं न सिध्येद् द्वयोरेकतरश्च प्रेयात्। तत्र यद्यक्षतयोनिः स्त्री विधवा स्यात् पतिः प्रेयात्। यद्वा विरक्तः पतितः क्लीबोऽसाध्यरोगी सन्तानोत्पादनासमर्थो वा कथमपि स्यात्तदा तया पत्यन्तरो वरणीयः। तस्याः पित्रा भ्रात्रा वा पत्यन्तरेण साकं सम्बन्धः कार्यः। सा चेदक्षतयोनिः स्यादित्यादिना मनुनाप्यक्षतयोनेः कन्यायाः पुनःसंस्कार उक्तः। वरयित्वा तु यः कश्चित्प्रणश्येत्पुरुषो यदा। ऋत्वागमांस्त्रीनतीत्य कन्यान्यं वरयेद्वरम्॥ वरो यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीबएव वा। विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा॥ ऊढापि देया सान्यस्मै सहावरणभूषणा॥ इत्यादिस्मृत्यन्तरस्थानेकप्रमाणैः सिद्धमक्षतयोनिकन्यायाः पुनर्विवाहो वैदिकरीत्यैव कार्यइति। युक्त्या

न्वेदमेव सिध्यति--यथा जगति यत्कार्यं यस्मै प्रयोजनायारभ्यते—तच्च यदि कथंचिन्निष्फलं स्यात्तत्पुनरपि कुर्वन्ति। अर्थाद् द्विवारं त्रिवारादिकं वा यावत्सफलं भवति तावत्पुनःपुनः कुर्वन्ति । यथा क्षुन्निवृत्तयेऽन्नं पचन्ति यदि स पाकः कथमपि सफलो न भवति तदा पुनःपाकः क्रियते । तथैवात्रापि यद्येकेन द्वाभ्यां वा विवाहाभ्यां फलं न सिध्यति तर्हि पुनःपुनरपि विवाहाः कार्याः । विवाहशब्दस्यावान्तरभेदः पुनर्विवाहो नियोगो वा । तत्राक्षतयोनिकन्यायाः कथमपि पत्युः कार्यसाधकाभावे पुनर्विवाहः कार्यः स च यावज्जन्म तयोः सम्बन्धइति कृत्वा पुनर्विवाहइत्युच्यते । क्षतयोनेः पुत्रादीनामभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थएव नियोगः कार्यः । इमौ च पुनर्विवाहनियोगावापद्धर्मौ । अतएव न सर्वार्थावपि तु यः पुरुषः स्त्री वा सनातनधर्मेण ब्रह्मचर्येण स्थातुमशक्ता यदि व्यभिचारेण भ्रूणहत्यादिकं कुर्यादनेकापदां भाजनं वा स्यात्तदपेक्षया पुनर्विवाहनियोगाभ्यां निर्वाहकरणं वरम् । यदा च विवाहस्यापि केषांचिन्मते नियमो बन्धनं वा नास्ति । यदि कश्चित्पुरुषः काचित्स्त्री वा नेच्छति सा विवाहमकृत्वा यावज्जन्म ब्रह्मचर्याश्रमेण तिष्ठेत् । तदा यस्य भार्या यस्या वा पतिर्म्रियतेतस्योपरि शास्त्रस्य बन्धनं कथं स्यात्?। यत्तेन विवाहः कार्यएव किन्तु स्वातन्त्र्यमत्र द्वयोरस्ति येच पुनर्विवाहनियोगौ कुर्वन्ति तदपेक्षया ब्रह्मचर्यस्थौ स्त्रीपुरुषावतिश्रेष्ठौ । परन्तु यावज्जन्म ब्रह्मचर्याश्रमेणावस्थितिरतिगहना नह्यकृतबुद्धिभिः षोढुं शक्यते किन्तु कश्चिदेव षोढुं शक्नोति । नियोगस्य विधानं नवमाध्याये कृतमस्ति तस्य विशिष्टं व्याख्यानं तत्रैव द्रष्टव्यम् । तत्र नियोगविधानानन्तरं चतुर्भिः पद्यैः खण्डनमपि कृतं तस्य

समीक्षा नवमस्य प्रक्षिप्तप्रसङ्गे द्रष्टव्या। क्षतयोनेरपत्यार्थिन्या नियोगः कार्यइति मानवः सिद्धान्तः। नियोगस्यापद्धर्मत्वं च मनुना नवमे स्वीकृतमेव—अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदीत्यादिना। केचिदत्र विप्रतिपन्नाः कलौ नियोगं न मन्यन्ते। उक्तं च तैः—

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेदित्यादिना॥

प्रमत्तगीतं वेदविरुद्धमेतत्। नहि वेदेऽश्वालम्भादिकं कर्म विहितमस्ति। संन्यासनियोगौ च यथावसरं यथायोगं यथाऽधिकारं च कार्यौ। अतएव वेदे नियोगप्रसङ्गउक्तम्—आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि। अर्थात्तानि तादृशान्युत्तराणि संवत्सराण्यागमिष्यन्ति यदा कुलस्त्रियस्ताभिरकर्त्तव्यानि कर्माणि करिष्यन्ति तेषु समयेषु नियोगः कार्यइति। एतेन कलियुगे विशेषतया नियोगः कार्यः। अन्येषु युगेषु यदा विधवानामेवमाधिक्यं नासीत्। तदानीं धर्मप्रवृत्तेराधिक्याद्व्यभिचारोऽपि नासीदतो नियोगस्य पुनरुद्वाहस्य वा प्रयोजनमावश्यकत्वमपि नासीत्। अतोऽन्यकृतयुगाद्यर्थो नियोगो नास्त्यपितु कलियुगार्थो विशेषतयास्ति। तस्मादिदानीं भ्रूणहत्यादिवारणाय विधवानामापत्काले निर्वाहाय च यथायोगं नियोगपुनरुद्वाहाववश्यं कार्यौ। यदा च क्षुल्लगति तदा तस्या निवृत्तये धीमताऽवश्यं यत्नः कार्यः। येष्वसत्यां क्षुधि भोजनदानविधिरस्ति नहि तानि धर्मशास्त्राणि। यदा च यादृशेन कर्मणा मनुष्याणां दुःखनिवृत्तिः सुखावाप्तिश्च जायते तदा तादृशकर्मानुष्ठानाय येषु प्रेरणास्ति तान्येव वेदादिसच्छास्त्राणि धर्मशास्त्रपदवाच्यानि भवितुमर्हन्ति। धर्मशास्त्राणां निर्माणस्य चैतदेव प्रयोजनं

यत्तदुक्तमार्गेण गच्छन्तो जना दुःखानि नाप्नुयुः सुखानि च यथाकालमवाप्नुयुः। यत्र च दुःखनिवृत्त्युपायो नैव प्रदर्शितो नैव तानि धर्मशास्त्राणि। तस्मान्नियोगनिषेधकानां धर्मशास्त्रत्वाऽभावोऽप्रमाणहेतुः। अतः सामयिकदुःखनिवृत्तये विचारशीलैर्धर्मात्मभिरापदि नियोगेन धर्मरक्षा कार्येति मानवधर्मशास्त्रस्याशयः॥

भाषार्थः-अब गृहाश्रम प्रसङ्ग में विवाह नियोगऔर पुनर्विवाहों का विचार किया जाता है कि इस विषय में मानवधर्मशास्त्र का क्या सिद्धान्त है?। ब्रह्मचर्य आश्रम सेवन के पश्चात् मनुष्य को गृहाश्रम का प्रारम्भ करना चाहिये। उस में विवाह करना ही गृहाश्रम का मुख्य स्वरूप है इसी कारण गृह नाम स्त्री के समीप रहने वाला गृहस्थ कहाता है। यदि गृहस्थ शब्द का यह अर्थ माना जावे कि जो गृह नाम घर में रहे वह गृहस्थ है तो ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ भी किसी प्रकार के घर में ही ठहरते हैं तो उन की भी गृहस्थसंज्ञा होनी चाहिये। अथवा यदि संन्यासी भी किसी के घर में ठहरा हो तो उस का भी गृहस्थ नाम पड़ना चाहिये। अथवा जिन २ के स्त्री नहीं और वे किसी घर में रहते हैं तो गृहस्थ कहाने चाहिये पर ऐसी परिपाटी लोक में नहीं है इस कारण गृह शब्द स्त्री का पर्यायवाचक रखना चाहिये कि जो गृह नाम स्त्री के समीप ठहरे वह गृहस्थ वा गृहाश्रमी भी है। और स्त्री के साथ सम्बन्ध वा मेल होना ही विवाह है। अर्थात् स्त्री उस को अपना पति चित्त से मान ले और पुरुष उस स्त्री को अपनी पत्नी चित्त से मान ले इस प्रकार उन दोनों का परस्पर मन वाणी और शरीर से सम्बन्ध होना विवाह पद का अर्थ है। यदि मण्डप रचना पूर्वक कन्या के घर में जो वेदोक्त क्रिया होती अर्थात् मन्त्र पढ़ते वा होमादि करते हैं उस का नाम विवाह मान लें तो गान्धर्व, राक्षस और पैशाच विवाहों का नाम विवाह नहीं पड़ेगा क्योंकि उन में वैदिक मङ्गलाचरण वा शिष्ट लोगों का स्वीकृत व्यवहार प्रायः नहीं होता इसी लिये वे निन्दित विवाह माने गये हैं। परन्तु क्षत्रियों में पहिले से ही गान्धर्व विवाह की कुछ २ प्रवृत्ति चली आती है। और गान्धर्व विवाह में प्रायः स्त्री पुरुषों का संयोग पहिले हो जाता है और पीछे विवाह का कृत्य अर्थात् कुछ शिष्ट व्यवहार भी होता है। इस में विवाह की प्रसिद्धि करने से पूर्व प्रायः स्त्री पुरुषों का संयोग हो जाता है इसी

कारण श्रेष्ठ लोगों में इस की निन्दा है। यही चाल आज कल इङ्गलेण्डदेशवासियों में है कि कन्या और वर की इच्छा से पहिले संयोग भी हो जाता है। विवाह में वैदिकप्रक्रिया मन्त्रपाठ वा होमादि करने और अनेक सज्जन पुरुषों के सामने प्रतिज्ञा पढ़े जाने का यही प्रयोजन है कि एक तो सर्वसाधारण को प्रकट हो जावे कि अमुक का पुत्र और अमुक की कन्या का परस्पर विवाह हो गया और द्वितीय उन कन्या वरों की प्रतिज्ञा के अनेक सज्जन लोग साक्षी हो जावें कि प्रतिज्ञा से विरुद्ध चलने में उन दोनों को भय रहे कि हम को वे लोग धिक्कार देंगे। और तृतीय ऐसे बड़े आजन्म सम्बन्ध होने के प्रारम्भ में सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना करना कि वह सब का स्वामी सदा हम को धर्म पर चलने की प्रेरणा करे इत्यादि प्रयोजनों के लिये मङ्गलाचरणरूप वेदी पर कृत्य अवश्य करना चाहिये पर उस कृत्य का नाम विवाह नहीं है इसी कारण यदि वेदीमात्र का कृत्य होकर कन्या वर पृथक् २ हो जावें और फिर उन का मैथुन संयोग होने से पूर्व ही पुरुष का शरीर छूट जावे तो वह कन्या धर्मशास्त्रानुकूल विधवा नहीं मानी जा सकती और ऐसी दशा में उस पुरुष के मर जाने पर उस कन्या का फिर से वेदोक्तरीति का विवाह हो सकता है पर लोक में इस से विरुद्ध चाल पड़ गयी है कि वेदी पर के कृत्य को ही पूरा विवाह समझ लेते हैं और उस कृत्य के पश्चात् पुरुष के मर जाने से कन्या को विधवा मान कर बैठाल रखते हैं इस का बड़ा कारण अविद्या है। इस विषय का जिन को विशेष व्याख्यान देखना हो वे "विवाहव्यवस्था" नामक पुस्तक में देखें। इस प्रकरण में तात्पर्य यही है कि वेदी पर जो वेदोक्त मङ्गलाचरण होता है वह स्वयं विवाह नहीं किन्तु विवाह की प्रसिद्धि प्रार्थना और प्रतिज्ञा होने के लिये है और विवाह का पूर्वरूप है जैसे ज्वर के पूर्वरूप को कोई ज्वर माने वा कहे तो सर्वथा विरुद्ध वा हानिकारक नहीं वैसे यहां नहीं घटता क्योंकि विवाह शब्द का अर्थ पतिपत्नीभाव से स्त्री पुरुष का संयोगमात्र न माना जावे तो गान्धर्वादि को विवाह नहीं कह सकते इस लिये विवाहशब्द का उक्तार्थ ही ठीक है। इसी अर्थ से द्वीपान्तर निवासियों के सम्बन्ध को भी विवाह कह सकते हैं। इस लेख से मेरा यह प्रयोजन नहीं है कि ब्राह्मादि श्रेष्ठ विवाहों में वैदिक मङ्गलाचरण करना विशेष प्रयोजनीय नहीं किन्तु आशय यह है कि ब्राह्म आदि शिष्ट विवाह हैं और जिन में वेदोक्तक्रिया नहीं होती वे नीच लोगों के

विवाह हैं । इस से ब्राह्मादि उत्तम हैं । और ब्राह्मणादि वर्णों को वैसे ही करने चाहिये । पर वेदी की क्रियामात्र को विवाह समझ लेने से ही अनेक कन्या निरपराध विधवा मानकर बैठा रक्खी हैं यही बड़ी हानि है यदि विवाह का ठीक अर्थ समझलें तो जिन का पुरुष से संयोग नहीं हुआ वे कन्या वास्तव में विधवा नहीं । उन का विवाह भी नहीं हुआ तो अब उन का ठीक विवाह निःसन्देह कर देना चाहिये यही मेरा प्रयोजन है ।

विवाह के आठ भेद हैं अर्थात् मनुष्य जाति भर में आठ प्रकार के ही विवाह मानें जा सकते हैं उन के नाम ब्राह्म, दैव आदि हैं इन का विशेष व्याख्यान वहीं तृतीयाध्याय के भाष्य में होगा । परन्तु इस प्रसङ्ग में इतनी शङ्का हो सकती है कि स्वयंवर विवाह कौन है ? इस का उत्तर यह है कि स्वयंवर इन आठ से भिन्न कोई विवाह नहीं किन्तु मुख्यकर प्राजापत्य के अन्तर्गत आ सकता है क्योंकि उस में कन्या वर दोनों परस्पर पहिले प्रतिज्ञा करलें कि हम दोनों प्रसन्न हैं गृहाश्रम में धर्म करें गे ऐसा वाणी से कह कर वेदोक्त विधि से विवाह किया जाय वह प्राजापत्य है । पद्मावती आदि के स्वयंवर में यही हुआ भी है कि पहिले वर कन्या की परस्पर प्रसन्नता होकर विवाह हुए हैं । इसी लिये इस को चार प्रशस्त विवाहों में रक्खा है कि जो आर्यों को करना चाहिये ॥

विवाह प्रसङ्ग में एक पुरुष को एक ही स्त्री के साथ विवाह करना चाहिये । यह वार्त्ता "(क्रीडन्तौ०) पुत्र पौत्रों के साथ आनन्द करते हुए दोनों स्त्री पुरुष गृहाश्रम में धर्म का सेवन करें" । इस मन्त्र में द्विवचन का ग्रहण होने से ही निश्चय होती है कि यही वेद का सिद्धान्त है । और यही सनातन धर्म है कि एक पुरुष एक ही सवर्णा स्त्री के साथ विवाह करे । ऐसा होने पर जो कोई कामी पुरुष अपने वर्ण की वा अन्य वर्णों की अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं वे वेद विरुद्ध करते हैं । और पूर्वकाल में किन्हीं प्रतिष्ठित पुरुषों ने भी ऐसा किया तो जानो वेदविरुद्ध किया । अर्थात् कई विवाह कर लेने से किसी की प्रतिष्ठा नहीं होती किन्तु प्रतिष्ठा के हेतु उन लोगों के अन्य श्रेष्ठ काम थे [यद्यपि असवर्ण वा अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करना धर्मानुकूल वा प्रशंसा योग्य सुख का हेतु काम नहीं है तथापि उस से भी अधिक निकृष्ट कर्म की अपेक्षा वह अच्छा है । अर्थात् अपने से उच्च वर्ण की कन्या के साथ विवाह करना अत्यन्त बुरा है । इस लिये यदि असवर्णा के साथ विवाह किसी कारण करने ही पड़ता

हो वा अपने वर्ण की योग्य अनुकूल कन्या नहीं मिलती हो तो अपने से नीचे वर्ण की कन्या के साथ विवाह कर लेना चाहिये। इस का प्रयोजन यह है कि पुरुष का अंश उत्तम और स्त्री का कुछ निकृष्ट रहने से सन्तान ठीक धर्मात्मा वा विचारशील उत्पन्न होते हैं। जैसे अन्य पदार्थों के मेल से वस्तु बनते हैं वहां भी यह नियम रहता है कि अमुक२ इस२ प्रकार का इतना२ पदार्थ मिलने से अमुक वस्तु ठीक बनेगा। इसी कारण वैसा ठीक मेल न मिलने से अनेक वस्तु बिगड़ जाते हैं। इस पर कुछ अधिक समाधान की आवश्यकता नहीं जो कोई निश्चय करना चाहे वह प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है अर्थात् एक ब्राह्मण से शूद्र की कन्या में उत्पन्न हुए और एक शूद्र से ब्राह्मणी में उत्पन्न हुए सन्तानों के गुण कर्म स्वभाव का कितना भेद पड़ता है?] तो भी जो कामी लोग सामान्य प्रकार से अर्थात् निषिद्ध माता भगिनी पक्ष की स्त्रियों के साथ भी व्यभिचार करते हैं अथवा वेश्याओं का सेवन करते हैं उन की अपेक्षा अनेक विवाह करने वाले कामी लोग सुखी और धर्मात्मा होते हैं। इस प्रकार कामी पुरुषों को भ्रूणहत्यादि महापातकों से रोकने के लिये यह उपाय वा किन्हीं का मत अच्छा है कि जो अनेक स्त्रियों के साथ विवाह कर लेना चाहिये अर्थात् निषिद्ध स्त्रियों और वेश्याओं के साथ विवाह करने की अपेक्षा कामासक्त पुरुषों को अनेक बिवाह कर के निर्वाह करना अच्छा है किन्तु एकस्त्रीव्रत वाले सनातन धर्मी की अपेक्षा से वे कामी उत्तम नहीं हैं। इसी लिये इस मनुस्मृति के तृतीयाध्याय में लिखा गया है कि जो कामासक्ति के साथ प्रवृत्त हैं उनके लिये आगे कहीं अन्य वर्णों की स्त्रियों के साथ भी विवाह हो सकता है। इस में दो पक्ष हैं कि अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करने वाले को अपने वर्ण की अनेक स्त्रियां न हों वा किसी कारण न प्राप्त हो सकें तो अपने से नीचे वर्ण की अन्य स्त्रियों के साथ विवाह करना चाहिये। उन में ब्राह्मण को क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की कन्याओं के साथ विवाह कर लेना चाहिये यह किन्हीं का मत है और अन्य मनु आदि के मत में तो ब्राह्मण क्षत्रियों को शूद्र की कन्या के साथ कदापि विवाह न करना चाहिये। यह अनेक धर्मात्माओं और मानवधर्मशास्त्र का मत है। यद्यपि नीति वालों के कहने वा मानने के अनुसार स्त्री सम्बन्ध-रूप विवाह के दो फल हैं। जैसे नीति में लिखा है कि रति और पुत्र ये दो फल स्त्री के हैं परन्तु धर्मशास्त्रों के सिद्धान्त से सन्तानों की उत्पत्ति ही मुख्य

फल है किन्तु रतिमात्र चाहने वाले पुरुष धर्मात्मा नहीं हो सकते। जैसे कहा है कि जो "अर्थ–धनादि और काम भोग में आसक्त नहीं उन के लिये धर्म का उपदेश किया गया है" अर्थात् जो धनादि की प्राप्ति और कामभोग में आसक्त हैं अर्थात् तृष्णारूप नदी में गोता खा रहे हैं उन को धर्म का ज्ञान नहीं होता। इस से स्त्री का सम्बन्ध होने पर यदि पुत्रादि उत्पन्न हों तो गृहाश्रम की सफलता है अन्यथा निष्फल है इसी कारण नीति में लिखा है कि "सन्तति न हो तो मैथुन करना शोचनीय है। शोच्यं मैथुनमप्रजम्" इसी कारण विवाह करने से पूर्व ही मन में फल का अनुसन्धान करने के लिये और उत्तम सन्तान होने के लिये उपाय दिखाये गये हैं कि यह कार्य इस प्रकार किया हुआ सफल और अच्छा फलदायक होता है वा होगा। और विरुद्ध अनिष्ट फल को हठाने के लिये कहा है कि इस २ प्रकार की कन्या के साथ विवाह न करना चाहिये। सम्यक् विचार पूर्वक भी यदि विवाह किया जाय और किसी कारण फल सिद्धि न हो और दो में एक मर जावे। उन में यदि अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जावे अर्थात् पति मर जावे अथवा विरक्त साधु पतित नपुंसक और असाध्यरोगी अर्थात् सन्तानों के उत्पन्न कर सकने में अशक्त किसी प्रकार हो जावे तो उस स्त्री को दूसरे पति से विवाह कर लेना चाहिये और उस के पिता वा भाई को उचित है कि अन्य पुरुष के साथ सम्बन्ध कर दें "वह कन्या यदि अक्षतयोनि हो तो पौनर्भव नामक पुरुष के साथ उस का पुनर्विवाह करना चाहिये" इत्यादि वचनों से मनु जी ने भी अक्षतयोनि कन्या का पुनर्विवाह कहा है। तथा कात्यायन स्मृति में लिखा है कि "मन वाणी से स्त्री को स्वीकार कर के जो कोई पुरुष मर जावे और उस कन्या से संयोग न हुआ हो तो कन्या अन्य वर को तीन मास पीछे स्वीकार कर लेवे। तथा वेदी सम्बन्धी विवाह क्रिया हुए पश्चात् वर अन्य वर्ण का अर्थात् अपने से नीच वर्ण का निकले, वा पतित, नपुंसक, दुष्कर्मी, सगोत्र, शूद्र, अथवा दीर्घ रोगी निकले तो विवाह हो जाने पर भी उस कन्या का विवाह अन्य अच्छे निर्दोष वर के साथ कर देना चाहिये" इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि अक्षतयोनि कन्या का पुनर्विवाह वैदिकरीति से ही कर देना चाहिये। युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि जैसे जगत् में जो कार्य जिस प्रयोजन वा फल के लिये आरम्भ किया जाता है वह यदि किसी प्रकार निष्फल हो जावे तो उस को फिर भी करते हैं अर्थात् दो वार तीन

वार आदि भी करते हैं कि जब तक सफल न हो तब तक वार २ करते हैं जैसे क्षुधा की निवृत्ति के लिये अन्न पकाते हैं। यदि वह पाक किसी प्रकार सफल न हो तो फिर पाक किया जाता है वैसे यहां भी एक वा दो विवाहों से फल सिद्ध न हो तो वार २ कई विवाह करने चाहिये उन्ही की नियोग संज्ञा पड़ती है इसी प्रकार अनेक नियोग निकलते हैं। और विवाह का अवान्तर भेद पुनर्विवाह वा नियोग है। उन में अक्षतयोनि कन्या का पति के मर जाने वा किसी प्रकार सन्तानोत्पत्तिरूप फल सिद्ध करने में असमर्थ होने पर पुनर्विवाह करना चाहिये और उस में मरणपर्य्यन्त स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध बना रहता है इस कारण उस को पुनर्विवाह कहते हैं। क्षतयोनि स्त्री का पुत्रादि के अभाव में सन्तानोत्पत्ति के लिये ही नियोग करना चाहिये। नियोग में उन २ स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध दो पुत्रों की उत्पत्ति पर्यन्त ही रक्खा जाता है। ये पुनर्विवाह और नियोग दोनों आपद्धर्म हैं इसी कारण सब को नियोग वा पुनर्विवाह करने नहीं पड़ते। यदि कोई स्त्री वा पुरुष सनातनधर्मरूप ब्रह्मचर्य के साथ नहीं रह सकता हो और व्यभिचार के साथ गर्भपातादि पाप करावे वा अनेक विपत्तियां भोगे उस की अपेक्षा पुनर्विवाह वा नियोग द्वारा निर्वाह करना उत्तम है। जब विवाह का भी किन्ही के मत में नियम वा बन्धन नहीं है। यदि कोई पुरुष वा स्त्री विवाह करना न चाहे वह विवाह न करके जन्म भर ब्रह्मचर्य आश्रम के साथ रहे तो जिस की स्त्री वा जिस स्त्री का पति मर जावे उस पर शास्त्र का बन्धन क्योंकर हो सकता है ? कि जो उस को विवाह करना ही चाहिये। किन्तु इस अंश में दोनों स्त्री पुरुष स्वतन्त्र हैं चाहें विवाह करें वा न करें। जो लोग नियोग और पुनर्विवाह करते हैं उन की अपेक्षा से ब्रह्मचर्य में स्थित स्त्री पुरुष अति श्रेष्ठ हैं। परन्तु जन्मभर ब्रह्मचर्याश्रम के साथ रहना भी अति कठिन है। साधारण लोग ऐसा नहीं सह सकते किन्तु कोई विचारशील ब्रह्मचर्य के तेज को सह सकता है। नियोग का विधान नवमाध्याय में किया है उस का विशेष व्याख्यान भी वहीं देखना चाहिये वहां नियोग विधान किये पश्चात् चार श्लोकों से नियोग का खण्डन भी किया है उस का आन्दोलन नवमाध्याय के प्रक्षिप्त प्रसङ्ग में होगा। सन्तान चाहने वाली क्षतयोनि स्त्री को नियोग करना चाहिये यह मानवधर्मशास्त्र का सिद्धान्त है। नियोग का आपद्धर्म होना मनु जी ने नवमाध्याय में स्वयमेव स्वीकार किया है कि "अब आगे स्त्रियों के आपत्कालका धर्म कहेंगे"

अनेक लोग इस विषय में विरुद्ध निश्चय किये हुये हैं कि कलियुग में नियोग नहीं करना चाहिये। और उन लोगों ने ऋषियों के नाम से बनाये धर्म शास्त्राभासों में लिखा भी है कि "घोड़े का मारना–अश्वमेध, गौ का मारना— गोमेध, संन्यास धारण करना, मांस के पिण्ड देना और नियोग करना, ये पांच कर्म कलियुग में न करे इत्यादि" यह वेद से विरुद्ध और प्रमादी लोगों का कहा वचन है क्योंकि वेद जैसे पवित्र पुस्तक में घोड़े का मारना आदि घृणित काम कैसे हो सकता है? अर्थात् वेद धर्म का मूल है और अहिंसा को सब लोग परम धर्म मानते हैं। यदि वेद में घोड़े आदि की हिंसा हो तो वह धर्म का मूल नहीं हो सकता। इस अंश के विशेष व्याख्यान करने का यहां अवसर नहीं। संन्यास और नियोग अवसर, योग्यता वा अधिकार के अनुसार करने चाहिये। इसी लिये वेद के नियोग प्रकरण में लिखा है कि "वैसे संवत्सर वा समय आगे आवेंगे कि जब कुलस्त्री लोग अनुचित व्यभिचारादि कर्म करेंगी उन समयों में नियोग करना चाहिये" इस से सिद्ध होता है कि कलियुग में विशेष कर नियोग कर्त्तव्य है। अन्य युगों में जब विधवाओं की अधिकता नहीं थी और उस समय धर्म के प्रचार की अधिकता से व्यभिचार भी नहीं था इस कारण उस समय नियोग वा पुनर्विवाह का प्रयोजन वा आवश्यकता भी नहीं थी इस से सिद्ध होता है कि अन्य सत्युग आदि के लिये नियोग नहीं है। किन्तु विशेष कर कलियुग जैसे समय के लिये नियोग है। तिससे इस समय गर्भहत्या न होने के लिये और आपत्काल में विधवाओं का निर्वाह करने के लिये योग्यतानुसार नियोग वा पुनर्विवाह अवश्य करने चाहिये। जब भूख लगती है तब उसकी निवृत्ति के लिये बुद्धिमान् को अवश्य यत्न करना चाहिये। जिन पुस्तकों में भूख न लगने पर ही भोजन देने का विधान है वे धर्मशास्त्र नहीं। जब जैसे कर्म से मनुष्यों के दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति होती है उस काल में वैसे कर्मों के सेवन के लिये जिन पुस्तकों में आज्ञा लिखी है वे ही वेदादि श्रेष्ठ पुस्तक धर्मशास्त्र कहाने योग्य हैं। और धर्मशास्त्र बनने का यही प्रयोजन है कि जो उन में कहे मार्ग से चलते हुए मनुष्य दुःखों को न प्राप्त हों और यथा समय सुखों को अवश्य प्राप्त हों। जिन पुस्तकों में समयानुसार दुःख से बचने का उपाय नहीं दिखाया गया वे धर्म शास्त्र नहीं हैं। इस कारण नियोग के निषेध करने वालों का धर्मशास्त्र न होना ही प्रामाणिक न होने में हेतु है।

इस से सामयिक दुःखों की निवृत्ति के लिये विचारशील धर्मात्मा लोगों को आपत्काल में नियोग से धर्म की रक्षा करनी चाहिये यह मानवधर्मशास्त्र का सिद्धान्त वा आशय है ॥

अथ पञ्चमहायज्ञेषु तर्पणश्राद्धयोर्विशिष्टो विचारः पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः । कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन् ॥ तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः । पञ्च कॢप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ इत्यादिप्रकारेण पञ्चमहायज्ञानां सप्रयोजनं व्याख्यानं मनुना स्वयमेव कृतम् । अध्यापनं ब्रह्मयज्ञइत्यत्राध्ययनमपि तस्मिन्नध्यापने सम्भवति कुतः सत्यध्ययनेऽध्यापनस्य सत्त्वात् । अतोऽध्यापनेऽध्ययनमन्तर्गतं भवति । अध्ययने च संध्याकर्माप्यन्तर्गतं भवति सन्ध्यायामपि सावित्र्या अध्ययनस्यैव प्राधान्यात् । सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितइत्युक्तत्वाच्च । अतः स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञइति निष्पन्नं भवति । तर्पणाख्यो द्वितीयः पितृयज्ञस्तस्यैवावान्तरभेदः श्राद्धम् । अग्निहोत्राख्यो देवयज्ञः । वैश्वदेवाख्यो भूतयज्ञः । अतिथिपूजनं नृयज्ञः । यज्ञशब्दश्चानेकार्थः । ब्रह्मणो वेदस्य विद्यायाः परमात्मनो वा सङ्गतिः प्राप्तिः क्रियते येन स ब्रह्मयज्ञः । पितॄणां यजनं पूजनं क्रियते येन स पितृयज्ञः । देवा दिव्या गुणा इज्यन्ते दीयन्ते सर्वस्मै येन स देवयज्ञः । यद्वा तस्याज्ञापालनेन देवः परमात्मा—इज्यते पूज्यते इति देवयज्ञः । भूतानि—पशुपक्षिकीटपतङ्गादिजन्तव इज्यन्ते सत्क्रियन्ते येन स भूतयज्ञः । नरो मनुष्या अकस्मादुपस्थिता भोजनावसर आगता इज्यन्ते सत्क्रियन्ते येन स नृयज्ञइति शब्दार्थाः।

यथाकथंचिदन्यप्राणिभ्यः सुखप्रापणं धर्मः । अतएव पञ्चमहायज्ञा अपि धर्मोपार्जनहेतुत्वाद्धर्मपदवाच्या भवितुमर्हन्ति । सति

चैषां धर्मत्वेऽधर्मस्य निवर्त्तकत्वं कथमपि सम्भवति । यद्यपि पञ्च-महायज्ञा रोगस्यौषधमिव चुल्ह्यादिजन्यसूनानां निवर्त्तका न सम्भवन्ति । तथापि सूनादोषजनितस्यापराधस्य प्रतिपक्षि पञ्चमहायज्ञजनितं सुकृत् फलं सम्भवति । अर्थात्सूनादोषस्य दुःखं फलं पञ्चमहायज्ञानां च सुखं फलं भविष्यति । यथा दुष्कृतस्य फलं दुःखं प्राप्तं भवति तथैव सुकृतस्य सुखमपि फलंस्यात् । यथा क्षुत्पिपासारूपस्य दुःखस्य निवृत्तिरन्नजलादिना जायते तदा च सुखं जायते। इयमपि निष्कृतिरेवास्ति । यथा दुःखभोगेन शरीरेन्द्रियात्मान्तःकरणानि व्याकुली भवन्ति तथैव सुखप्राप्तौ हृष्टानि पुष्टानि च भवन्त्ययमप्येकविधः प्रतीकारोस्ति । इत्थं पञ्चमहायज्ञानां सर्वस्य सुकृतस्य वा दुःखप्रतीकारकत्त्वं सम्भवति । अनेके प्रयत्ना उपाया वाऽन्नजलाद्युपार्जनरूपाः प्रत्यहं मनुष्येण दुःखप्रतीकारायैव क्रियन्ते तथैव पञ्चमहायज्ञा अपि प्रतिदिनमनुष्ठेयाः । यथा ब्रह्मयज्ञानुष्ठानेन मानसवाचिकदुष्कृताज्जायमानस्य दुःखस्य पूर्वमेव वासनारूपं मूलं विच्छिद्यते पश्चात्तेषामनियतविपाकानां कर्म्मणां नष्टत्वाद्दुःखमपि नैवोत्पद्यते । तथा पितॄणां ज्ञानिनां सेवनात् पितरः संचितानामनियतविपाकानां कर्मणां निवृत्त्युपायं दर्शयन्ति । भाव्याचरणं चोपदेशेन सम्यक्कुर्वन्ति तेन दुष्कर्माण्येव नाचरति येषां फलं दुःखं स्यादित्थमन्येऽपि महायज्ञा दुःखप्रतीकारहेतवः सन्ति । ते च गृहस्थेनानुदिनमालस्यनिद्राप्रमादादीन् विहाय सेवनीयाः । इति सामान्येन संक्षिप्तो विचारः ।

अथ पितृयज्ञस्य द्वौ भेदौ तर्पणं श्राद्धं च तत्र तर्पणं सामान्येन तृप्तिः प्रसन्नता क्षुत्पिपासादिजन्यदुःखस्य निवृत्तिर्मनसि महान्

सन्तोष आह्लादः। श्राद्धं च कर्म, येन कर्मणाऽन्नेन तृप्ताः क्षुज्जन्य-दुःखान्निवृत्ताश्च भवन्ति। श्रद्धया दीयते यस्माच्छ्राद्धं तेन निगद्यते। अत्र श्राद्धे कर्मणि भोक्तुं योग्यस्यान्नस्यापि श्राद्धं नामास्ति। अतएव पाणिनिसूत्रं संघटते—श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ। अ० ५। २। ८५॥ श्राद्धभुक्तमनेन स श्राद्धी श्राद्धिकश्चोच्यते। अत्र भक्त्या श्रद्धया सम्पादितमन्नं श्राद्धपदवाच्यं गृह्यते। अस्मादेव प्रमाणाच्छ्राद्धशब्दो भोजनजन्यसत्कारकर्मणो नामेति निश्चीयते। अन्यत्रापि यत्र यत्र श्राद्धशब्दस्य व्याख्या शिष्टसम्मतपुस्तकेषूपलभ्यते तत्रापि भोजनस्यैव प्रकरणम्। लौकिकपरिपाट्याऽपि भोजनसत्कारकर्मणि श्राद्धशब्द उपलभ्यते। अनेके जनाः कस्मिंश्चिन्नियतदिवसे यदा कांश्चिद्ब्राह्मणान् भोजयन्ति तदा व्याहरन्ति। अद्यास्मद्गृहे श्राद्धमस्ति नैव ते पिण्डादिकं विन्यस्यन्ति। अनेन सिद्धं भोजनसत्कारकर्मणि तदर्थमुपकल्पितेऽन्ने च श्राद्धशब्दस्य प्रवृत्तिरस्ति। अयमेव सत्यः सिद्धान्तः।

अथ के पितरइत्यत्रोच्यते-पितृशब्दवाच्यप्रसङ्गे नीतिज्ञैरित्थमुक्तम्-

जनकश्चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः॥

इत्थं योगरूढः पितृशब्दः स्वस्य जनके च रूढितया प्रवृत्तोऽस्ति। लौकिकाश्च पितृशब्दवाच्यं जनकादन्यं नैवावगच्छन्ते। अन्यस्मिन् लोकव्यवहारे पितृशब्देन यथावसरं जनकउपनेता, अन्नदाता, भयत्राता च गृह्यते। परन्तु श्राद्धकर्मणि विशेषतया विद्यादाता पितृशब्देन गृह्यते। स्वजनकस्य सेवाशुश्रूषे तु सदैव कार्येएव नोचेत्कृतघ्नत्वं तस्य सम्भवति। विद्यादातुरपि प्रत्यहं भोजनादिना

सत्कारः कार्यस्तदेव श्राद्धम्। स्वस्य पितुरन्येषामुपनेत्रादीनां वा या सेवा तस्य तर्पणं नाम। श्राद्धाधिकारिणौ च द्वावेव स्तः पितरो देवाश्च। वाक्कर्मणि–अध्यापन उपदेशे च सदा प्रवृत्ता अर्थादध्यापनोपदेशाभ्यां विद्याप्रचारेण जगदुपकाराय प्रतिक्षणं प्रवृत्ता देवाः। मानसकर्मणि सदैव ज्ञाने रताः सदा सदसद्विवेकं कुर्वन्ति। अल्पल्पं मितं भाषन्ते यद्वा वाचंयमास्तिष्ठन्ति। यस्ययस्य विषयस्य सम्यगनुभवं कुर्वन्ति येन जगदुपकारः सम्यक् सम्भवति तमेव विषयं पुस्तकादिद्वारा विशदी कृत्य प्रचारयन्ति ते पितरः। वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते। अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्। इत्यादिप्रमाणैस्तत्पूर्वोक्तं सिध्यति। अतएव श्राद्धप्रसङ्गे मनुनैवोक्तम्। ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः। हव्यानि च यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि॥

कविभ्यो ज्ञानिभ्यो हितानि सत्त्वगुणप्रधानानि मेध्यानि भोक्तुं योग्यानि वस्तूनि कव्यानि। होतुं योग्यानि च हव्यानि। तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामइत्युपनिषत्स्वपि ज्ञानिनएव श्राद्धम्। ज्ञानिनः सदसद्विवेकारो जना यैः सम्यग् भक्त्या श्रद्धया च सेव्यते तदुपरि प्रसन्ना भूत्वा सेवकानां कल्याणकरणाय मनो दधति। सन्मार्गं चोपदिशन्ति संकेतमात्रेण वा निर्दिशन्ति। इदमित्थं कार्यमिदं च न कार्यमिति। तथा कृत्वा भक्ता अपि कल्याणभाजो भवन्ति। अतः कारणाज्ज्ञाननिष्ठानां पितॄणामन्नादिदानेन श्रद्धया सेवाशुश्रूषे कार्ये। सत्कारेष्वन्नेन सत्कारएव सर्वेषु मुख्योऽस्ति। यतोऽन्नं वै प्राणिनः प्राणाइति। भोजनेनैवास्य शरीरस्योत्पत्तिस्थितिप्रलया भवन्ति। सात्त्विके चाहारे प्राप्ते शरीरमारोग्यं सात्त्विकी

बुद्धिः प्रबला भवति तेन च धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिः । वस्त्रा-भूषणादिसुखसाधनानामलाभेऽपि शरीरं तिष्ठति केवलान्नाश्रयेण जलेन च । अन्नजलाप्राप्तौ च लक्षशो मुद्रासु सतीषु सर्वस्मिन् वा पृथिवीराज्येऽपि प्राप्ते सति शरीरस्थितिर्भवितुमशक्या । अतस्तर्पणे श्राद्धे चान्नजलाभ्यां सत्कारस्य प्राधान्यम्। पूर्वकालात्सतामपीय-मेव परिपाट्यस्ति । अतोऽन्नेन मुख्यतया सर्वैः श्राद्धं कार्यम् ॥

किं श्राद्धमपि नित्यं कर्मोत नैमित्तिकम् ? । उभयथा भवितु-मर्हति । तद्यथा–मनुष्येण नित्यमेव श्राद्धं कार्यमिति विधीयते । तथाचोक्तं मनुनैव–कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा। पयोमूलफ-लैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥पञ्चमहायज्ञानां नित्यकर्मत्वेनापि श्रा-द्धस्य नैत्यिकत्वमेवायाति । अयं चोत्सर्गः । अपवादतया च नैमि-त्तिकमपि श्राद्धम्। यः कश्चित्प्रतिदिनं श्राद्धं कर्त्तुमशक्तः सत्कारसाध-नानामप्राप्तत्वात्। यं वा पूजार्हाः पितरः प्रतिदिनं नैव प्राप्नुवन्ति। तेन साधनलाभे पूज्ये चागते श्राद्धं कार्यम् । नैमित्तिकश्राद्धाय कश्चित्समयोऽपि नियन्तव्यः । पूर्वजैश्च नैमित्तिकश्राद्धाय समयो नियतइत्यनुमीयते।अतएव–श्राद्धे शरदइतिपाणिनिसूत्रस्य (४।३ १२) व्यवस्था सम्भवति । अन्येषु ऋतुषु श्राद्धं न भवति न वा कर्त्तव्यमिति तात्पर्यं नास्ति । किन्त्वन्यर्त्तुवाचकशब्देभ्यष्ठञ् न भ-विष्यत्यपित्वणेव तेन शारदिकं श्राद्धम् । शैशिरं श्राद्धमित्यपि भ-वितुं शक्नोति । तथापि केनचिदपवादेन सूत्रेण कस्माच्चिद्विशेष-तया प्रत्ययविधानं तस्य वस्तुनः कर्मणो भावस्य वा समयविशे-षे प्रचाराधिक्यं सूचयति । यथा शरदि रोगआतपश्च प्राधान्यमाप-द्यतेऽतएव शरच्छब्दाद्विभाषारोगातपयोरिति विशिष्टं विधीयते ।

तथैवात्रापि शरदि नैमित्तिकश्राद्धस्य विशेषोऽनुमातव्यः। साधन-दौर्लभ्ये च श्राद्धस्य नैमित्तिकत्वमुक्तम्। तानि च साधनानि भोज्येषु प्रधानानि दुग्धसम्भवानि। दुग्धादेव दधि,तक्र,श्रीखण्डमनेकविधं मिष्टं च स्वादिष्टं सम्पद्यते। वर्षया च गवादिपशुभक्ष्यघासादीनां तदानीमेव प्राधान्येनोत्पत्तिः। घासादिबाहुल्येन च दुग्धस्य प्राचुर्येण प्रस्रवणं तेन पायसादीनि वस्तूनि सुलभतया प्राप्यन्ते श्राद्धे च पायसादिपुष्टवस्तूनां प्रायेण संप्रयोगः। अन्नेषु शालीनां प्राधान्यम्। शालयोऽपि वर्षाधिक्याच्छरद्येवोत्पद्यन्ते। एतस्मादेव कारणादाश्वयुजे मासि पूर्वकालान्नैमित्तिकश्राद्धस्य परिपाट्यासीत्। सा चेदानीं सत्या परम्परा नष्टा। परन्तु सत्पुरुषैश्चार्यैः पूर्वोक्तप्रकारेण पुनरपि सत्या परम्परा प्रचारणीया। ये च कथमपि नित्यश्राद्धं कर्त्तुमशक्तास्तदर्थं नैमित्तिकश्राद्धस्य समयविशेषोऽपि नियन्तव्यः। यथाऽन्येषां येषां कार्याणां समयो नियम्यते तान्येव याथार्थ्येन यथातथा वा भवन्ति।येषां समयएव कश्चिदपि नास्ति तानि शुभकार्याणि प्रायेणालस्यादिवशान्मनुष्यैर्न क्रियन्ते। अद्यश्वः करिष्यामइत्येवं वदतामेव कालआगच्छति। तदा च शोकसागरे निमज्जन्ति। अतो यदि पूर्वजनियतनैमित्तिकश्राद्धस्य शरत्समयोऽमावास्यादिर्वा कथमपि दूषितः स्यात्तर्ह्यार्यैरन्यः कश्चित्समयो नियन्तव्योऽमुकामुकसमयेऽस्माभिर्नैमित्तिकं श्राद्धं कर्त्तव्यम्। तदानीं पूर्वतएव पूज्यानामाह्वानं भोगसाधनानां च सञ्चयः कार्यः। एवं बहवः कुर्वन्त्यपि। तथाप्यार्यैर्विशेषतया शुभकर्मप्रचाराय [यानि कर्माण्यज्ञानेन विपरीतभावं प्राप्तानि तैश्च हानिरेव जायते तानि] श्राद्धादिकर्माणि नियते नियते समये सत्योद्देशेन प्रवर्त्तनीयानि। एवं

कृतएव विपरीतानां निवृत्तिर्भवितुं शक्या न च विपरीतभावस्य खण्डनमात्रेण। तस्माद्विवेकिनां यथाकालं यथासाधनं चान्नादिसामग्र्या श्रद्धया भक्त्या च सेवनरूपं श्राद्धं सज्जनैरास्तिकैरवश्यं कर्त्तव्यमिति वैदिकः स्मार्त्तश्च सिद्धान्तः ॥

भाषार्थः—अब पञ्चमहायज्ञों में से तर्पण वा श्राद्ध पर विशेष विचार किया जाता है। "विशेष कर गृहस्थ पुरुष को पांच काम प्रतिदिन ऐसे करने पड़ते हैं कि जिन से दोष लगते रहते हैं। जैसे एक प्रतिदिन चूल्हा जलने से ईंधन वा पृथिवी के अनेक जन्तु जलते, द्वितीय चक्की पिषने वा पिषवाने से अनेक जन्तु अन्न के साथ पिष जाते तीसरे मार्जनी (झाड़ू) द्वारा अनेक कोमल छोटे जन्तु मरते, चौथे उखली मूसल से कूटने द्वारा अनेक मरते और पांचवें जलपात्र—घड़े आदि जहां रखे रहते हैं उन के नीचे शीतलप्रदेश चाहने वाले प्रायः जन्तु आ ठहरते और घड़ादि के ढुरने से मारे जाते हैं। ये कार्य प्रायः गृहस्थों को करने पड़ते हैं। इन के करने विना नहीं बच सकते और जब करने पड़ते हैं तो जीव जन्तुओं के प्रत्येक पदार्थ में रहने से हानि वा हिंसा भी होती है। इसी कारण गृहस्थों को दोष भी अवश्य लगते हैं। इस लिये उस दोष के बदले गृहस्थों को कुछ पुण्य भी नियमपूर्वक अवश्य करना चाहिये उसी पुण्यरूप कर्म को प्रायश्चित्त भी कह सकते हैं क्योंकि ईश्वर की सृष्टि में कुछ किसी का अपकार हो जावे तो उस को उस के बदले प्रत्युपकार भी करना चाहिये। इस कारण ऋषि लोगों ने वेद का आशय लेकर पञ्चमहायज्ञ व्याख्या कर स्पष्ट समर्थ किये हैं कि इन को इस कारण और इस२ प्रकार सब गृहस्थ लोग प्रतिदिन किया करें" इत्यादि प्रकार से तृतीयाध्यायादि में पञ्चमहायज्ञों का प्रयोजन सहित व्याख्यान मनु जी ने स्वयमेव किया है।

अध्यापन अर्थात् पढ़ाने का नाम ब्रह्मयज्ञ है। ऐसे प्रसङ्ग में पढ़ाने के अन्तर्गत पढ़ना भी आ जाता है क्योंकि पढ़ने वाले और पढ़ना होने पर ही पढ़ाना बन सकता है। और पढ़ने के अन्तर्गत सन्ध्याकर्म भी आ जाता है क्योंकि सन्ध्या में गायत्री का पढ़ना ही मुख्य कर्म है इसी लिये सन्ध्या के प्रसङ्ग में मनुस्मृति में लिखा है कि एकान्त बन आदि में जाकर सावित्री को पढ़े। इस सब कथन से स्वाध्याय का नाम ब्रह्मयज्ञ ठहरता है कि नित्य नियम से जिस२

वेद भाग का पढ़ना पढ़ाना वा जप पाठ आदि करना हो वह सब स्वाध्याय तथा ब्रह्मयज्ञ कहाता है ।

द्वितीय तर्पण नामक पितृयज्ञ है उसी का अवान्तर भेद श्राद्ध है । अग्नि-होत्र देवयज्ञ कहाता, वैश्वदेव--भूतयज्ञ और अतिथि पूजन नृयज्ञ कहाता है। और यज्ञ—शब्द के अनेकार्थ हैं । ब्रह्म--नाम वेद सम्बन्धिनी विद्या वा परमेश्वर की प्राप्ति जिस द्वारा की जाती है वह ब्रह्मयज्ञ, पितृ—नाम सदसद्विवेकी ज्ञानी पुरुषों की पूजा सत्कार जिस द्वारा किया जाय वह पितृयज्ञ, देव—नाम सर्वोत्तम गुण सब के लिये जिस द्वारा पहुंचाये जावें वह देवयज्ञ अथवा परमेश्वर की आज्ञा पालन द्वारा देव—नाम परमात्मा का पूजन जिस से किया जाय वह अग्निहोत्र देवयज्ञ, भूत—नाम पशु पक्षी कीट पतङ्गादि का सत्कार जिस द्वारा किया जाय वह भूतयज्ञ बलिवैश्वदेव कहाता है और नर—नाम उपदेशादि द्वारा सब को ठीक मार्ग पर चलाने वाले अकस्मात् उपस्थित हुए अर्थात् भोजन के समय आये मनुष्यों का सत्कार जिस से किया जाता है वह नृयज्ञ कहाता है ये पञ्चमहायज्ञों के नामार्थ वा शब्द सम्बन्धी अर्थ हैं ।

जिस किसी प्रकार अन्य प्राणियों को सुख पहुंचाना धर्म कहाता है । इसी अर्थ से पञ्चमहायज्ञ भी धर्म का सञ्चय कराने वाले होने से धर्मपद वाच्य हो सकते हैं । और जब ये धर्म हैं तो अधर्म की निवृत्ति भी किसी प्रकार हो सकती है। यद्यपि पञ्चमहायज्ञ ओषधि से रोग की निवृत्ति होने के समान चूल्हादि से होने वाले हिंसारूप दोषों के निवर्त्तक होने सम्भव नहीं । तो भी हिंसा रूप दोष से होने वाले अपराध का प्रतिपक्षी--विरोधी पञ्चमहायज्ञ से होने वाला पुण्य फल हो सकता है । अर्थात् जीवहिंसा का दुःख फल है और पञ्च-महायज्ञों के अनुष्ठान का सुख फल होगा । सुख से दुःख की निवृत्ति होती ही है। तथा जैसे बुरे कर्म का फल दुःख मिलता है वैसे अच्छे कर्म का सुख फल हो। वा जैसे भूख प्यास से होने वाले दुःख की निवृत्ति अन्न जलादि से होती है तब सुख उत्पन्न हो जाता है । यह भी एक प्रकार का प्रायश्चित्त है अर्थात् वैसे ही पञ्चमहायज्ञ के सेवन से पुण्य फल का उदय हो कर दुःख का नाश होता है। जैसे दुःख भोगने से शरीर इन्द्रिय आत्मा और अन्तःकरण व्याकुल वा निर्बल हो जाते हैं वैसे ही सुख मिलने पर हृष्ट पुष्ट हो जाते हैं यह भी एक प्रकार दुःख निवृत्ति का उपाय है । इस प्रकार पञ्चमहायज्ञ वा सब सुकृत—पुण्य कर्म

दुःख को हठाने वाले हो सकते हैं। तथा अनेक अन्न जलादि सुख के साधनों के उपार्जनरूप प्रयत्न वा उपाय दुःख हठाने के लिये ही प्रतिदिन मनुष्य करता है। वैसे ही पञ्चमहायज्ञ भी प्रतिदिन सेवन करने योग्य हैं। जैसे—ब्रह्मयज्ञ के सेवन से मानस वाचिक दुष्कर्म से होने वाले दुःख की वासनारूप जड़ पहिले ही कट जाती है। पीछे उन (जिन का फल होना निश्चित नहीं जो ओषधि करने से रोग के समान साध्य हैं ऐसे) सञ्चित कर्मों का नाश हो जाने से दुःख भी उत्पन्न नहीं होता। तथा पितृ नामक ज्ञानियों के सेवन करने से ज्ञानीलोग अनियतविपाक सञ्चित दुष्ट कर्मों की निवृत्ति का उपाय दिखाते हैं। आगे होने वाले आचरणों को उपदेश से सुधार देते हैं तिस से दुष्ट कर्म नहीं करता जिन का फल दुःख हो। इस प्रकार अन्य भी महायज्ञ दुःख के हठाने में हेतु हैं। गृहस्थ पुरुष को उचित है कि आलस्य निद्रा और प्रमादादि को छोड़ कर उन का सेवन करे। यह संक्षेप से सामान्य पञ्चयज्ञों का विचार है॥

अब पितृयज्ञ के दो भेद हैं तर्पण और श्राद्ध उन में तर्पण सामान्य कर भूख प्यास आदि से होने वाले दुःख की निवृत्तिरूप तृप्ति वा प्रसन्नता, मन में पूरा सन्तोष वा आनन्दरूप माना जाता है। और श्राद्ध नाम कर्म विशेष का है कि जिस कर्म के द्वारा अन्न से तृप्त हुए जन क्षुधा से होने वाले दुःख से निवृत्त होते हैं। श्रद्धा से जिस कारण दिया जाता इस लिये उस पितृ सम्बन्धी दानकर्म को श्राद्ध कहते हैं। अथवा श्रद्धा पूर्वक दिये जाने वाले अन्न का नाम भी श्राद्ध हो सकता है। इसी अर्थ से श्राद्धभोजी शब्द सार्थक बन जाता है कि श्राद्ध-नाम श्रद्धा पूर्वक बनाये अन्न का खाने वाला। तथा इसी विचार के अनुसार—५। २।८५। वां पाणिनि सूत्र घट जाता है कि जिस ने श्राद्ध का भोजन किया हो वह श्राद्धी वा श्राद्धिक कहावे गा। यहां भक्ति श्रद्धा से पकाये हुए अन्न का नाम श्राद्ध है। इसी प्रमाण से श्राद्ध शब्द भोजन से होने वाले सत्काररूप कर्म का नाम है यह निश्चित होता है। अन्यत्र भी जहां २ श्रेष्ठ लोगों के बनाये वा माननीय पुस्तकों में श्राद्ध शब्द की व्याख्या दीख पड़ती है वहां भी भोजन का ही प्रकरण है। लौकिक परिपाटी से भी भोजन सम्बन्धी सत्कार कर्म में श्राद्ध शब्द प्राप्त होता है। अनेक मनुष्य किसी नियत दिन जब किन्हीं ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं तब कहते हैं कि आज हमारे घर में श्राद्ध है किन्तु वे लोग पिण्ड आदि नहीं करते केवल भोजन कराने का नाम भी श्राद्ध बोलते हैं। इस से सिद्ध हुआ

कि भोजन से होने वाले सत्कार कर्म और उस सत्कार के लिये श्रद्धा से बनाये अन्न का नाम श्राद्ध है यही सत्य सिद्धान्त है ॥

अब पितर वा पितृ शब्द वाच्य कौन हैं ? इस बात का विचार किया जाता है। नीति में लिखा है कि, उत्पादक, यज्ञोपवीत कराने वाला, विद्या दाता, अन्नदाता, और भय से बचाने वाला ये पांच पिता माने गये हैं इस प्रकार पितृ शब्द योगरूढ़ है और अपने उत्पादक पिता में रूढि भी है। लौकिक लोग पितृ शब्द कहने से उत्पादक से भिन्न को नहीं जानते। अन्य लौकिक व्यवहार में पितृ शब्द से प्रकरणानुसार जनक, यज्ञोपवीत कराने, अन्न देने वा भय से बचाने वाले का ग्रहण होता है। परन्तु श्राद्ध कर्म में विशेष कर पितृ शब्द से विद्यादाता का ग्रहण होता है और अपने २ उत्पादक पिता की सेवा शुश्रूषा तो सब को सदैव करनी ही चाहिये क्योंकि जो ऐसा नहीं करता वह कृतघ्नी अवश्य है। और ज्ञान वा विद्या देने वाले ज्ञानी पिता का भी भोजनादि से प्रति दिन सत्कार करना चाहिये वही श्राद्ध है। अपने जनक और अन्य यज्ञोपवीत कराने वाले आदि की जो सेवा है उस को सामान्य प्रकार तर्पण कहते हैं। श्राद्ध कर्म में पूजने योग्य दो ही हैं पितृ और देव। जो पुरुष वाणी के कर्म में प्रवीण हैं पढ़ाने और उपदेश करने में सदा प्रवृत अर्थात् पढ़ाने और उपदेशादि वाणी के कर्म द्वारा विद्या का प्रचार कर के जगत् का उपकार करने के लिये प्रतिक्षण प्रवृत्त हों वे देवता कहाते हैं इसी प्रसङ्ग पर यह भी कहना अनुचित नहीं कि वाक् वाणी, सरस्वती, विद्या ये शब्द एकार्थ हैं तो प्रशस्त विद्यावान् लोगों को देव मानना ठीक सिद्धान्त है। और जो मानसकर्म ज्ञान में सदा रमण करते अपने मन ही मन में शुद्ध आनन्द की लहरियों का अनुभव करते हैं। सदा अच्छे बुरे का विवेक करते हैं। बहुत कम नियम से बोलते वा वाणी को वश में कर के मौन रहते हैं। जिस२ विषय पर सम्यक् अनुभव करलेते हैं कि जिस के प्रचार से जगत् का ठीक २ उपकार हो सकता है। उसी विषय को पुस्तकादि द्वारा सरल कर प्रचलित करते हैं वे पितर हैं "वेदविद्या का दान देने से आचार्य—गुरु को पिता कहते हैं। अज्ञानी को बालक और ज्ञानी को पिता कहते हैं" इत्यादि मनु जी के प्रमाणों से पूर्व का कथन सिद्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण में भी स्पष्ट लिखा है कि—

देवाः पितरो मनुष्या एतएव वागेव देवाः।
मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥ शत० १४।४।३।१२ ॥

इस का अभिप्राय यह है कि जिन में वाणी के कठोर, मिथ्याभाषण, चुगली और असम्बद्ध बोलनारूप चार दोष न हों किन्तु सत्यबोलना, हितकारी वाक्य बोलने, प्रियवाणी बोलना और वेदादिशास्त्र पढ़ना इन्हीं चार प्रसङ्गों में वाणी का व्यय करना किन्तु क्रोधादि पूर्वक नहीं बोलना यह गुण जिन में हो वे देव हैं और मानस विचार में तत्पर रहें अर्थात् मन के तीन [अन्य के वस्तु को लेने की तृष्णा, दूसरों का अनिष्ट विचार, और व्यर्थ असम्भव विचार ये] दोष जिन में न हों तथा मानस तीन गुण—सब प्राणियों पर दया, निरपेक्षा, वा सन्तोष और शुभकर्मों वा परमात्मा की उपासनादि में श्रद्धाभक्ति जिन में विशेष कर हो वे पितर कहाते हैं। सारांश यह है कि वाचिक पापों से रहित और वाचिक पुण्य करने में विशेष कर प्रवृत्त देव और मानस पापों से रहित मानस पुण्य करने में अधिक कर प्रवृत्त पितृ कहाते हैं। जिन की वाणी सब प्रकार शुद्ध है वे देव और जिन का मन सब प्रकार शुद्ध है वे पितृ लोग कहाते हैं। मानस विचार की रक्षा वाणी से होती है इसी अभिप्राय से पितृ कार्य का रक्षक देवकार्य को माना है। तथा देव को ऋषि और पितृ को मुनि भी उक्त विचारानुसार कह सकते हैं। देव, ऋषि, पितृ, सब आते हैं वहां ऋषि पद वाच्य ब्रह्मचर्याश्रमस्थ वेदाध्येता तपस्वी अन्तेवासी शिष्य लिये आवेंगे इत्यादि। इसी विचार को पुष्ट करने के लिये तृतीयाध्याय के श्राद्धप्रकरण में मनु जी ने स्वयमेव कहा है कि "जिन में सत्वगुण की प्रधानता होने से बुद्धिवर्द्धक तथा खाने योग्य हों वे कव्यपदार्थ प्रयत्न के साथ ज्ञानियों को खवाने चाहिये। और होमने योग्य वस्तु चारो प्रकार के विद्वानों को खवाने चाहिये इसी कारण उपनिषदों में भी "आत्मज्ञानी की पूजा करे" ऐसा लिखा है इस से भी ज्ञानी लोगों का ही सत्कार आता है। सत्य असत्य का विवेक करने वाले ज्ञानी जनों की जो लोग सम्यक् श्रद्धा भक्ति से सेवा करते हैं वे उन सेवकों पर प्रसन्न हो कर कल्याण करने के लिये मन लगाते हैं। और श्रेष्ठमार्ग का उपदेश करते वा संकेतमात्र से जता देते हैं कि यह काम ऐसे करना चाहिये और यह न करना चाहिये। इसी कारण ज्ञाननिष्ठ पितृजनों के सेवक भी कल्याणभागी होते हैं। इसी से ज्ञानयुक्त पितृजनों की अन्नादि दान से श्रद्धा पूर्वक सेवा शुश्रूषा करनी चाहिये। सब सत्कारों में भोजनार्थ अन्न से सत्कार करना ही सब में मुख्य है। क्योंकि वेद का सिद्धान्त है कि प्राणियों का प्राण अन्न के आश्रय है। और भोजन से

ही इस शरीर की उत्पत्ति स्थिति और नाश हो सकता है। सात्विक-सत्त्वगुण का बढ़ाने वाला आहार मिलने पर शरीर नीरोग और सत्त्वगुण वाली प्रबल बुद्धि होती है इसी से धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि है। वस्त्र और भूषण आदि सुख के साधनों के न मिलने पर भी केवल अन्न और जल के आश्रय से शरीर ठहर सकता है परन्तु अन्न जल न मिलने पर लाखों रुपये वा सब पृथिवी का राज्य मिल जाने पर भी शरीर की स्थिति नहीं रह सकती इस से तर्पण और श्राद्ध में अन्न जलों से सत्कार करना मुख्य है। पूर्वकाल से श्रेष्ठ लोगों की भी यही परिपाटी चली आती है [अब थोड़े दिनों से कुछ परम्परा विगड़ी है कि मरे हुओं के नाम से पिण्ड देने लगे और इस अंश को प्रायः आर्षपुस्तकों में भी मिला दिया] इस लिये भोजन से मुख्य कर सब को ज्ञानी पितृ लोगों का श्राद्ध करना अवश्य उचित है॥

अब यह विचार किया जाता है कि श्राद्ध भी नित्यकर्म है वा नैमित्तिक? इस का उत्तर यह है कि दोनों प्रकार का हो सकता है। जैसे मनुष्य को नित्य श्राद्ध करना चाहिये यह विधि—आज्ञा है। सो मनुस्मृति में ही लिखा है कि "नित्य२ अन्न, जल, दूध वा खीर फल और कन्द मूलों से पितृ-नाम ज्ञानी पुरुषों का प्रीतिपूर्वक श्रद्धा से सत्कार करे" (यहां नित्यकर्म श्राद्ध के विधान में भोजन के पदार्थ गिनाये हैं। इन में मांस अभक्ष्य होने से नहीं रक्खा गया। इसी से अन्यत्र जहां२ मांस का प्रयोग श्राद्ध में लिखा है वहां२ सर्वत्र प्रक्षिप्त जानो) तथा पञ्चमहायज्ञ सामान्य कर नित्यकर्म हैं उन के अन्तर्गत होने से भी श्राद्ध नित्यकर्म सिद्ध होता है यह सब कथन उत्सर्गरूप से है।

और अपवादरूप से नैमित्तिक भी श्राद्ध है। अर्थात् जो कोई प्रतिदिन भोजनादि सत्कार के साधनों के न मिल सकने से श्राद्ध नहीं कर सकता। अथवा जिसको सत्कार के योग्य पितृजन नित्य२ नहीं प्राप्त होते उस को साधनों के मिलने और पूज्य पितृजनों की प्राप्ति होने पर श्राद्ध करना चाहिये [पूजा के योग्य पितृ कहने से किन्हीं अवस्था में बड़ों का ग्रहण नहीं समझना क्योंकि—

"अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः"

इस कथन से सिद्ध है कि ज्ञानवृद्ध का नाम पिता है किन्तु अवस्था वृद्ध का नाम नहीं] नैमित्तिक श्राद्ध के लिये कोई समय भी नियत करना चाहिये। इसी लिये हमारे पूर्वजों ने नैमित्तिक श्राद्ध के लिये समय नियत किया था ऐसा

अनुमान होता है। इसी कारण "श्राद्धे शरदः। ४। ३। १२" इस पाणिनीय सूत्र की व्यवस्था ठीक लग जाती है। इस सूत्र का आशय यह है कि ऋतुवाचक शरद् शब्द से श्राद्ध अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है। यद्यपि शरद् ऋतु में अनेक सामान्य वा विशेष कार्य होते हैं तथापि शरद् ऋतु में हुए वा होने वाले श्राद्ध का ही नाम शारदिक पड़ेगा अन्य शरद् ऋतु के कामों को शारद कहेंगे। परन्तु इस कथन से यह तात्पर्य नहीं है कि शरद् ऋतु में ही श्राद्ध किया जाय अन्य में न किया जाय वा अन्य ऋतु में श्राद्ध नहीं होता। किन्तु अभिप्राय केवल यह है कि अन्य ऋतु वाचक शब्दों से ठञ् न हो किन्तु अण् ही हो तिससे "शैशिरं श्राद्धम्" ऐसा भी कह सकते हैं। और किसी अपवाद सूत्र से किसी प्रयोजन से विशेष कर प्रत्यय का विधान करना उस वस्तु कर्म वा भाव का किसी विशेष समय में अधिक प्रचार होना सूचित कराता है। जैसे शरद् ऋतु में रोग और सूर्य के तेज की विशेषता होती है। इसी कारण शरद् शब्द से "विभाषा रोगातपयोः" इस पाणिनीय सूत्र द्वारा विशेष प्रत्यय विधान किया जाता है। वैसे ही यहां भी शरद् ऋतु में नैमित्तिक श्राद्ध की विशेषता अनुमान से जाननी चाहिये। साधनों के ठीक २ न मिलने आदि पर श्राद्ध का नैमित्तिक करना कहा गया है। वे भोजन करने योग्य वस्तु सर्वोपरि उत्तम पदार्थ दुग्ध से बनते अर्थात् खोया के पेड़ा बरफी आदि रबड़ी खीर आदि अनेक प्रकार के मीठे वा दही मठा शिखरन आदि वस्तु सब दूध से बनते हैं। और वर्षा ऋतु के होने से गौ आदि पशुओं के भोजन घासादि मुख्य कर उसी समय वा उससे कुछ पहिले अवश्य उत्पन्न होते और पशुओं के भक्ष्य घासादि की अधिकता से दूध अधिक तर उत्पन्न होता है इस कारण खीर आदि वस्तु सुगमता से प्राप्त हो सकते हैं और श्राद्ध में खीर आदि पुष्ट वस्तुओं का प्रायः विधान किया है और अन्नों के बीच उत्तम चावल मुख्य माने गये हैं वे भी वर्षा की अधिकता से शरद् ऋतु में ही उत्पन्न होते हैं। इसी कारण क्वार के महिने में पूर्वकाल से नैमित्तिक श्राद्ध की परिपाटी चलाई गई थी। और वह सत्य परम्परा अब नष्ट हो गयी अर्थात् वह श्राद्ध जिस उद्देश से पहिले चलाया गया था वैसा उद्देश अब नहीं रहा। अब कोई वैसे ज्ञानी लोगों को श्राद्ध के लिये न खोजता और न परीक्षा करता और न उसके मुख्य प्रयोजन को समझ कर श्राद्ध करता किन्तु अब विपरीत अधिक कर होता है। परन्तु सत्पुरुष आर्य अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय

वैश्यों को उचित है कि पूर्वोक्त प्रकार से फिर सत्य परम्परा का प्रचार करें। जो लोग उक्त कारण से नित्य श्राद्ध नहीं कर सकते उन के लिये नैमित्तिक श्राद्ध का समय विशेष नियत करना चाहिये यह कह चुके हैं। सो इस की अत्यन्त आवश्यकता इस लिये भी है कि अन्य भी जिन२ कार्यों का समय नियत किया जाता है वे ही काम यथार्थरूप से वा जिस किसी प्रकार अवश्य होते हैं। अर्थात् मनुष्य में प्रायः कुछ गुण ऐसे लगे हैं कि वह अधर्म की ओर तो शीघ्र झुक जाता वा ऐसे कामों में शीघ्र लगजाता है जिन से उस को प्रत्यक्ष कुछ स्वार्थसिद्धि दीखती है। ऐसे काम अधिकांश में मुख्य धर्मसम्बन्धी नहीं हैं तात्पर्य यह कि ऐसे कामों का समय नियत न किया जाय तब भी वह प्रायः कर सकता है परन्तु जो मुख्य धर्मसम्बन्धी काम हैं वा जिन का स्वार्थ प्रत्यक्ष नहीं दीखता वा जिन कार्यों के सिद्ध होने में अत्यन्त परिश्रम की अपेक्षा है उन कार्यों के करने से प्रायः बचता रहता है और बहुत से कार्यों की मरण पर्यन्त इच्छा ही करता रहता है पर कुछ भी नहीं कर पाता इस लिये मुख्य वा सर्वोत्तम धर्मसम्बन्धी कार्यों के करने का यदि समय नियत हो तो लोकलज्जादि से तो भी कुछ करने पड़ता है और नियत समय पर प्रायः आलस्य स्वयं दूर हो जाता है। यह बात लोक में दीख भी पड़ती है कि अनेक मनुष्य लोक लज्जादि के कारण अनेक दुष्कर्मों से बच जाते और जिन शुभ कामों का समय नियत है ऐसे अनेक काम लोकलज्जा वा देखादेखी अवश्य करने पड़ते हैं। परन्तु जिन कर्त्तव्य शुभकामों का कोई समय ही नियत नहीं है उन को प्रायः लोग आलस्यादि के वश होने से नहीं कर पाते। आज कल में अमुक कार्य करेंगे इस प्रकार कहते२ ही काल आकर घेर लेता है। उस समय शोकरूप समुद्र में गोता लगाते हैं। इस लिये यदि पूर्वज लोगों के नियत किये नैमित्तिक श्राद्ध के शरदृतु वा अमावास्यादि समय किसी प्रकार दोषयुक्त ठहरे [अर्थात् जिस कार्य की परिपाटी मुख्य उद्देश्य को छोड़ कर अन्यथा हो जाती है वे कार्य वा उन के समय शिष्टलोगों में प्रायः दूषित समझे जाते हैं क्योंकि उन समयों में प्रायः उसी परिपाटी वालों में समझे जाने सम्भव हैं। जैसे विष्णु के भक्त वैष्णव वा ब्रह्म के उपासक ब्राह्म इत्यादि शब्द अच्छे हैं पर वे एक २ मत विशेष के साथ प्रचरित हो जाने से दूषित हो गये इसी कारण आर्य लोग अपने को ब्राह्म, वैष्णव वा शैवादि नामों से न लिख सकते और न कह कर प्रसिद्ध कर सकते हैं इसी प्रकार यदि अशिष्ट

वा अन्धपरम्परा ग्रस्त लोगों से परिगृहीत होने से समय दूषित समझा जावे] तो आर्य लोगों को अन्य कोई समय नियत करना चाहिये कि अमुक २ समय में हम लोगों को नैमित्तिक श्राद्ध कर्त्तव्य है। उस नियत समय पर पूर्व से ही पूज्य पितृजनों का बुलाना और भोजन की सामग्री का जोड़ना उचित है और इसी प्रकार अनेक लोग करते भी हैं तो भी आर्य लोगों को विशेष कर शुभकर्म का प्रचार करने के लिये [कि जो कर्म अज्ञान से विपरीत भाव को प्राप्त हो गये हैं उन से हानि ही होती है उन] श्राद्धादि कर्मों को नियत २ समय पर सत्य उद्देश के साथ विशेष कर प्रवृत्त करना चाहिये यही सर्वसाधारण के सुधार का उदाहरण हो जायगा। ऐसा करने से ही विपरीत कर्मों की निवृत्ति हो सकती है। किन्तु विरुद्ध चाल के खण्डनमात्र से निवृत्ति होना दुस्तर है। इस लिये साधन और समय के अनुसार अन्नादि सामग्री से श्रद्धा भक्ति पूर्वक विवेकी लोगों का सेवनरूप श्राद्ध आस्तिक सज्जन लोगों को अवश्य करना चाहिये यही मुख्य सिद्धान्त है॥

अथ पौराणिकउवाच–यादृशं श्राद्धं तर्पणं वा त्वया पूर्वमुक्तं तादृशं वेदानुकूलं मानवधर्मशास्त्राद्यनुकूलं वा सम्भवति किम् ?। मन्त्रब्राह्मणोपनिषद्गृह्यसूत्रस्मृतीतिहासपुराणाद्यखिलशिष्टसम्मतपुस्तकेषु मृतानां पितॄणां श्रद्धयापिण्डाद्यर्पणं श्राद्धमिति प्रतिपादितमस्ति तथा च परम्परयानादिकालात्सर्वे श्राद्धं कर्माचरन्ति। वेदेषु–आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः। पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। इत्यादिमन्त्रेषु श्राद्धस्य कृत्यमुक्तम्। शतपथब्राह्मणे–अथ नीविमुत्सृज्य षट्कृत्वो नमस्करोति। न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम्। तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम्॥ इत्यादिरीत्या मनुस्मृतावपि श्राद्धस्य पूर्णं विधानं दृश्यते। गयाश्राद्धेन पितॄणां मोक्षो जायते इति सर्वतन्त्रकारेषु प्रसिद्धम्। एतदर्थमेव पुत्राणामावश्यकतास्ति। तथाचोक्तमपुत्रस्य गतिर्नास्ति। एवं सर्वसम्मते मृतपितॄणां श्राद्धे ये केचिद्विश्वासं न कुर्वन्ति नास्तिकास्ते सन्तीति। अथर्ववेदे च मृतानां

तर्पणं स्पष्टतयैवोक्तम्—ये जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः। तेभ्यो घृतस्य (जलस्य) कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती। इत्यादिना मृतपितॄणां श्राद्धं तर्पणं च सिद्धम् ॥

एवं प्राप्ते समाधानमिदमुच्यते—नास्त्यत्र सन्देहो यद्वेदाद्भिन्नेषु ब्राह्मणाद्यार्षपुस्तकेष्वपि यथाकथञ्चिन्मृतपितॄणां श्राद्धमुपलभ्यते तच्च स्वार्थसाधनतत्परैरेव नियोजितमित्यनुमीयते। कुत्रचिन्मृतानां श्राद्धं नास्ति तत्रापि बुद्धेर्भ्रान्तत्वात्तथैव दृश्यते तस्य चाज्ञानमेव कारणम्। मृतपितॄणां यद्यनादिकालाच्छ्राद्धं प्रवृत्तं तर्हि सर्गारम्भे समुत्पन्नैर्ब्रह्मादिभिः केषां मृतानां श्राद्धं कृतम्। यदा च मरीच्यादि-ऋषिभ्योऽग्निष्वात्तादिपितृगणानामुत्पत्तिः प्रदर्शिता तर्हि मरीच्या-दिभिरपि श्राद्धतर्पणे न कृते किम् ?। यदि कृते तर्हि किं पितृस्थाने स्वेषां पुत्राणां कृतेइति मन्यते युष्माभिः ?। अनेनानादिकाला-च्छ्राद्धं प्रवृत्तमिति सत्यं नास्ति। यदि कश्चिद्वदेन्नामूलं प्ररोहतीति न्यायाच्छ्राद्धं निर्मूलं कथम्प्रवृत्तमिति शृणु—यदा च पूर्वोक्तप्रकारे-णास्माभिर्ज्ञानिपुरुषाणामन्नादिना सत्कारः श्राद्धमिति प्रतिपाद्यते तदा नामूलं श्राद्धं भवति। ब्रह्ममरीच्यादिभिरपीदृशं श्राद्धं कर्त्तुं शक्यते तदानीमपि तद्भिन्नानां ज्ञानिनां सत्त्वात्। तस्मादस्माकं मते परम्परया नित्यं श्राद्धं भवितुमर्हति। मृतानां श्राद्धस्य जीवतां श्राद्धमेव मूलमतो नामूलम्। श्राद्धन्तु पक्षद्वयेऽपि कर्त्तव्यमेव नास्ति तस्य कर्त्तव्यत्वे विवादोऽपितु प्रकारे विवादः। पौराणिकैरपि प्रत्यक्षे जीवतामेव सत्काररूपं श्राद्धं क्रियते नहि मृताः पितरः क्वाप्यागत्य भुञ्जतइति कश्चिदप्यङ्गीकर्त्तुमर्हति। केवलं हठपूर्वकं कथनमेव विवा-दास्पदम्। फले च विवादः श्राद्धस्य कर्त्ता फलं लभते नहि मृताः

पितरः। पूर्वकाले यदा कश्चिन्मृतस्तस्य च सम्बन्धिनः शोकपरिप्लुता जाताइति मत्वा तेषामुपदेशका गुरुजनाः स्वशिष्याणामुपदेशेन शोकनिवृत्तये स्वयमागतवन्तस्तैः शिष्यैराहूता वा आगत्य तच्छोकनिवृत्त्युपायं कृतवन्तस्तदा च शिष्याः सत्कारं कृतवन्तः। इयं च परम्परा कश्चित्कालं प्रवृत्ताऽनन्तरमविद्याग्रस्तैः स्वयमेव कल्पितमेषां ब्राह्मणानां सत्कारेण मृतास्तृप्ता भवन्ति तदारभ्य मृतानां श्राद्धं प्रवृत्तमित्यनुमानं सम्भवति। यद्वा ज्ञानिनां सत्कारः सेवनमपि पुण्यं कर्म तच्च पुण्यं शोकावसरे क्रियमाणं शोकघ्नं स्यादिति सम्भवम्। तस्मादेवम्भूतेऽवसरे पुण्यं कार्यम्। यद्वा कस्यचिन्मरणानन्तरमवशिष्टाः शोकग्रस्तत्वेन कथञ्चिद्भुनादिभ्यो विरक्ता भवन्ति तदानीं भोजनादिदानं तैः सुलभतया क्रियते। अन्यदा च कश्चिदुदारएव धनव्ययं कर्त्तुं प्रवर्त्तते न च कृपणाः साधारणा वा। इत्येवं विचार्य कैश्चिद्विचारशीलैर्मरणानन्तरं दानं पुण्यं ज्ञानिनां च सत्कारः कार्यइत्युपदिष्टमन्यैश्चाविद्याग्रस्तैस्तेन मृतानां तृप्तिः फलं कल्पितं कियता कालेन च पिण्डादिरचनमप्यन्यैः कल्पितम्। सद्ग्रन्थेषु प्रवेशितं च येनाग्रे निरन्तरं प्रवृत्तिः स्यादित्यनुमातुं शक्यते। एवं सत्यं सनातनं श्राद्धमेवास्यान्यथाश्राद्धस्य मूलमतो नामूलं न च सनातनमनादिकालात्प्रवृत्तमिति सिद्धम्॥

यदि बहुकालाद्यद्वा ऋषीणामार्यराज्ञां समयाद्वा मृतानां श्राद्धं प्रवृत्तं तदापि बहुकालात्प्रवृत्तत्वेन यदि प्रामाण्यं स्यात्तर्हि चौर्यादिकमपि सज्जनैः कार्यम्?। चौर्याद्यधर्मस्यापि सर्गारम्भादेव प्रवृत्तेः। आयन्तु नः पितरइत्यादिमन्त्राणान्तु ज्ञानिनां पितृत्वएव निर्दोषः सम्यगर्थः सम्पद्यते न तु मृतानां पितृत्वे। सोम्यासः सोमं शान्ति

भावमर्हन्ति । अग्निराहवनीयादिः सुष्ठुप्रकारेणात्तो गृहीतो होतुं स्वीकृतो यैस्तेऽग्निष्वात्ता नोऽस्माकं पितरः पालका देवयानैः श्रेष्ठजनानामां मार्गैरायन्तु—आगच्छन्तु। नह्यत्र मृता इति विशेषणमस्ति न चोक्तविशेषणानि मृतेषु कथमपि घटन्ते। तस्मान्मन्त्रेषु जीवतामेव ज्ञानिनां पितृत्वेन ग्रहणम्। शतपथेऽपि नीविमुत्सृज्य षट्कृत्वो नमस्करोति—इति वाक्येन मृतानां श्राद्धं कार्यमिति नैवायाति नहि तत्र मृतानां ग्रहणमस्ति। कदाचिच्छतपथादिषु मृतानां श्राद्धं कार्यमिति केनाप्यभिप्रायेण लिखितं भवेत्तथापि नास्ति दोषस्तस्य वेदविरुद्धत्वात्प्रमादादिदोषदुष्टत्वाच्च । मनुस्मृतौ तु तृयीयाध्यादिषु बहूनि पद्यानि मृतेभ्यः श्राद्धदानप्रतिपादकानि सन्तीति मयाप्यूरीक्रियते । नहि तस्य लेखनमात्रेणैव कर्त्तव्यत्वमायाति। एवं स्यात्तदातु चौर्यं परस्त्रीगमनं वा कुत्रचिल्लिखितं तदपि कर्त्तव्यं प्राप्नोति । तेषां निर्धारणमग्रे तृतीयाध्यायप्रक्षिप्तसमीक्षायां करिष्यते॥

गयाश्राद्धं तु तत्रस्थैर्धूर्त्तैः परपदार्थापहर्तृभिः स्वार्थसिद्धये कल्पितमित्यनुमीयते। यदि कश्चिद्विद्वानत्र मनोदध्यात् तदा गयाश्राद्धेन श्राद्धस्य नित्यकर्मत्वं नश्यति, कुतो गयाश्राद्धानन्तरं पितरः श्राद्धं भोक्तुं न स्थास्यन्ति किन्तु मुक्ता भविष्यन्ति । पुनस्तेन निष्फलमिति मत्वा न कार्यमिति नैत्यिकत्वं न सम्भवति। तथा च पौराणिकपक्षे महान् दोषः । यदि गयाश्राद्धेन पितॄणां मोक्षः स्यात्तर्हि नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय इत्यस्माद्वेदवाक्याद्विरुद्धं यज्ज्ञानमन्तरेण मोक्षो भवेत् । नचायं सर्वशास्त्रकाराणां सिद्धान्तोऽपितु मतवादग्रस्तपुराणानां मतमिदम् । अपुत्रस्य गतिर्नास्तीत्यपि वाक्यमेकदेश्यस्ति । यद्यपुत्रस्य गतिर्नास्ति तर्हि ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा

वनाद्वेति ब्राह्मणोपनिषद्वाक्याज्ञया ब्रह्मचर्याश्रमादेव संन्यासग्रहणं परमार्थसाधनाय मोक्षाय वा स संन्यासो मिथ्यात्वं प्राप्नोति। ब्रह्मचर्याश्रमात्संन्यस्तो नैवापत्यमुत्पादयति। सम्यग्गतिः स्यादेवमर्थं च संन्यासः। तथा मनुनापि स्पष्टमेवोक्तम्—अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्। दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्। स्पष्टं च पद्यमिदम्। एवमितिहासादिष्वप्याजन्मब्रह्मचारिणां भीष्मादिमहज्जनानां सन्ततिरहितानामपि सुगतिः श्रूयते। तेनापुत्रस्य गतिर्नास्तीति वाक्यमन्याशयकं न च परमार्थसाधनपरम्। मृतानामस्मदादिपितॄणां यदि योगाभ्यासेश्वरोपासनादिशुभकर्माणि सञ्चितानि सन्ति यानि तैः स्वस्य वर्त्तमानकाल आचरितानि तर्हि तेषां शुभकर्मणां फलेनैव पितॄणां सुगतिरवश्यं भविष्यति। तच्च भगवद्गीतासु षष्ठे द्वितीये चाध्यायउक्तम्—

नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ६ ॥

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ २ ॥

एतेन सिद्धमस्मिन् जन्मनि परिश्रमेणोपार्जितो धर्मएव जन्मान्तरेऽपि सुखं ददाति। एवं धर्मात्मानः पितरः स्वकर्मभिरेव तरिष्यन्ति। तदर्थं श्राद्धफलकल्पनमनर्थकम्। यदि कश्चिद्धर्मं कृत्वापि दुर्गतिमाप्नुयात्तर्हि पापात्मापि सुगतिमाप्तुं शक्नोति तदापि मृतोद्दिष्टश्राद्धस्य नैष्फल्यमेवागतम्। यस्य च सुगतिः फलं सएव धर्मो दुर्गतिफलकश्चाधर्मः। यथा धर्मस्य नियतविपाकस्य ध्रुवं फलमाप्नोति तेन यथा धर्मात्ममृतपित्रर्थस्य श्राद्धस्य नैष्फल्यमेवमधर्मस्यापि नियतविपाकस्य दुःखं फलमवश्यमाप्स्यति तेन तथैवाधार्मिकपित्रर्थस्यापि श्राद्धस्य नैष्फल्यमापन्नम्। तस्मान्मृतोद्देशेन श्राद्धं न कार्यमपितूक्तप्रकारेण जीवतामेव कार्यम् ॥

अपुत्रस्य गतिर्नास्तीत्यस्यायमाशयः—पुत्राणामुत्पत्तिः संसारिणावश्यं कार्येति बहुषु शास्त्रेषु दृश्यते। तत्र सर्वत्रैव मुख्यतया द्वेएव प्रयोजने स्वार्थः परार्थश्च। स्वार्थस्तावल्लोकेऽपि प्रसिद्धो यथा लौकिका अपि कथयन्ति यदि कश्चित्सुपुत्रः स्यात्तर्हि वार्द्धक्ये धनाद्युपार्जनं कृत्वा भोजनाच्छादनादिनास्मान् तर्प्स्यति। कुपुत्रास्तु प्रत्युत पितॄन्सन्तापयन्ति प्रतिष्ठामपि विघातयन्ति रक्षणं तु दूरम्।

अजातमृतमूर्खाणां मृताजातौ सुतौ वरौ॥
वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतैरपि॥
एकेनापि सुवृक्षेण पुष्पितेन सुगन्धिना।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा॥

इत्यादिनीतिवाक्यानामप्ययमेवाशयः—यत्कुलदीपकेन सुपुत्रेणैकेनापि सर्वं कुलं प्रसन्नं सुखसम्भोगासम्पन्नं प्राप्तप्रतिष्ठं विख्यातं च जगति जायते। एवमर्थं कुलदीपकपुत्रप्राप्त्यर्थः सर्वैः प्रयत्नः कार्यः। यादृशं सुखं सुपुत्रवतः कुलस्य पितुर्वा सम्पद्यते नहि तादृशमपुत्रस्य स्वप्नेपि भवितुमर्हति। अतएव महाभारत उद्योगपर्वण्युक्तम्—वश्यश्च पुत्रइत्यादि। जरावस्थायां सर्वेषां शक्तिरपि जीर्यति। शक्तेरपि जीर्णत्वाज्जरावस्थोच्यते। तदानीं शक्तिविहीना वृद्धा जनाः स्वहस्तपादाद्यवयवैः स्वस्यापि सर्वं कार्यं यापयितुमशक्ता भवन्ति तदा धनाद्युपार्जनस्य भोजननिर्माणस्य तु कथैव का?। एवंभूते समये येषां निकटे पूर्वोपार्जितं धनादिकमपि नास्ति तेषां सत्पुत्रैः स्वबलेन धनादीनुपार्ज्य भोजनादिदानेन सर्वविधपरिचर्यया च रक्षा कार्या। येषां च निकटे पूर्वोपार्जितं धनादिकमस्ति तेपि भृत्यैस्तादृशं सुखं नावाप्तुमर्हन्ति यादृशं घृणादित्यागपुरस्सरं स्वात्मजः सुखं

दातुं शक्नोति । लोके च येषां पुत्रा न सन्ति तेषां मरणावसरे प्राप्ते प्रायः सुगतिर्न दृश्यते । यादृशं स्वत्वं मनुष्येणोपार्जितं तस्य रक्षोपयोगाय कुलपरम्परायापनाय च पुत्रैर्भाव्यम् । नह्यन्योऽन्यधनेन तदभीष्टमेव कार्यं करोति । किन्तु सुपुत्रः पित्रोपार्जितधनादिना पितुरभीष्टान्येव धर्मकार्याणि करोति । इत्यादिप्रकारेण पुत्रोत्पत्तिः स्वार्था प्रधानतया सज्जनैः स्वीक्रियते ॥

अथ—परार्था—परमेश्वरेण मनुष्या धर्मरक्षायै धर्मस्य व्यवस्थापनाय मर्यादापालनाय च विनिर्मिताः । अतएवोक्तम्—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

तस्माद्धर्ममाचरता मनुष्येण शक्तिसमये मरणात्पूर्वमेव स्वस्य प्रतिनिधिः सुपुत्र उत्पादनीयः । यथा स्वयं परमात्मसृष्टौ धर्मसेवनं कृतवान् करोति वा यस्ययस्य यथायथोपकारः कर्त्तुमारब्धः । यानियानि धर्मकार्याणि दानादीनि कुलपरम्परातो निबद्धानि स्वेन च सेवितानि तानि तथैव पुत्रः कर्त्तुमनुशास्यः । येन तस्मिन् मृतेऽप्युपकारसम्बन्धि कार्यं तथैव निर्विघ्नं प्रवृत्तं भवेत् ॥

शोच्यं मैथुनमप्रजमित्यनेन सूच्यते गृहाश्रमरूपदारपरिग्रहस्य पुत्रोत्पत्तिः फलं यदि पुत्राणामुत्पत्तिर्गृहाश्रमिणा न कृता मैथुनमेवाचरितं तर्हि तस्य दारपरिग्रहो निष्फलः । परमेश्वरेण च जगतः स्थित्या धर्मवर्द्धनायेयं सृष्टिः कृता यदि पुत्रोत्पत्त्यर्थो यत्नो न स्यात्तर्हि जीर्णशरीराणां मरणान्नूतनानां चोत्पादाभावात्सृष्टेरुच्छेदः प्रसज्येत । स च परमेश्वरेच्छातो विरुद्धोऽतः परमात्माभिप्रायोऽस्ति सन्तानोत्पत्तिः कार्येति । एवं यो न करोति स परमात्माज्ञाविघातकइति

कृत्वा तस्य सुगतिर्न स्यादिति वक्तुं शक्यते। एतच्चोत्सर्गरूपेण सामान्यं कथनं तेन बालब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्याश्रमादेव विरज्यन्ते ते गृहाश्रममपि न कुर्वन्ति। पुत्रोत्पादनेन तावन्तमुपकारं कर्त्तुं न शक्नुवन्ति यावन्तमाजन्म ब्रह्मचर्याश्रमेण कर्त्तुं शक्नुवन्ति। अतस्ते निःसन्तानदोषेण न लिप्यन्ते। जरावस्थायां च गृहाश्रमिवद्क्षीणत्वाच्छिथिला अपि न भवन्ति येषां पुत्रैरेव सुगतिः स्यात्। युवावस्थायां च ते बहूनां महोपकारं कुर्वन्ति तत्प्रत्युपकारमाचरन्तस्तच्छिष्याः प्राप्तशिक्षा वृद्धत्वे तान् मनसा वाचा कायेन च निरन्तरं परिचरन्ति सन्तोषयन्ति च। एवं विद्याधर्मसम्बन्धिनस्तेषामनेके शिष्याः पुत्रवदेव भवन्ति॥

अथ श्राद्धे पिण्डदानं कथं प्रवृत्तम्?। चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डान् विप्रः समाहितः॥ इत्यादिपद्येषु मनुस्मृतावेव पिण्डशब्दो ग्रासपर्यायत्वेन स्वीकृतः। पिण्डशब्दस्य यथासम्भवमन्येऽप्यर्थाः सम्भवन्ति। तथापि ग्रासपर्यायएवात्र श्राद्धउपयुज्यते। ग्रासश्च चान्द्रायणादिषु मोदकाकारेण लक्षितः। एवं च मोदकादिप्रकारकाः सर्वे मिष्टान्नविशेषाः पिण्डशब्दाभिधानाः पायसादिसर्वोत्तमस्वादिष्ठवस्तुभिर्निर्मिता ज्ञानिवृद्धपितृजनानां भोग्यवस्तुष्वग्रगण्यत्वेनोपयुक्ता आसन्नित्यनुमीयते। अनन्तरं च यदा मृतोद्दिष्टं श्राद्धं कैश्चित्कल्पितं तदा पिण्डानामपि दुर्गतिरभूत्। यदिदानीमर्द्धपिष्टानां सतुषाणां केवलयवानामेव यथाकथंचिन्निर्माय दीयन्ते यादृशमन्नं पशुभ्यो भक्षणाय दीयते। पितृभ्यः पिण्डा देयाइत्येवं पुरातनपुस्तकेषु श्राद्धप्रसङ्गे यत्रयत्र लिखितमासीत्तस्यायमाशयोऽस्ति यन्मोदकादयो गोलाकारा मिष्टान्नविशेषाः पितृभ्यो भोजनावसरे देया इति।

अनन्तरमविद्याप्रभावेण मुख्याशयमबुद्ध्वा मृतेभ्यः पिण्डा देयाइति कैश्चित्कल्पितमित्यनुमीयते तच्च नास्ति सम्यक् ॥

अथर्ववेदेऽपि तर्पणस्य विधानं नास्ति । ये केचित्तेन मन्त्रेण मृताइति पदमाश्रित्य मृतानां तर्पणं निस्सारयन्ति तैर्जीवाइति पदेन जीवतामपि तर्पणं निस्सार्यम् । यदि कोऽपि जीवाइति पदं मृता इत्यस्य विशेषणमिति वदेत्तस्य मते समुच्चयार्थस्य चकारस्य नैरर्थक्यमापत्स्यते । चकारेण च स्पष्टं प्रत्याय्यते यन्मृताइति पृथक्पदम् । सर्वनाम्नो यच्छब्दस्य च येइति चत्वारि रूपाणि मन्त्रस्य पूर्वार्द्धएव परिपठितानि तान्यपि सर्वेषां पृथक्त्वं बोधयन्ति । कथनमात्रं कोऽपि करोतु । किन्तु नैवास्यार्थं मृतपितॄणां तर्पणपक्षे याथार्थ्येन व्यवस्थापयितुं शक्नोति तस्मान्नैवास्मान्मन्त्रान्मृततर्पणस्य लेशोऽपि निस्सरति । किन्तु संसारोपकारिण्येकविधा विद्याऽस्मान्निश्चिता निस्सरति। साचाग्रे व्याख्यायते ॥

अ०-(ये,जीवाः) जीवन्ति कथञ्चित्कष्टेनान्नजलादीनुपलभ्य प्राणधारणं कुर्वन्ति। पचाद्यजिति वर्त्तमानकाले कर्त्तरि-अच्प्रत्ययः (ये,च,मृताः) येऽपि म्रियन्तेऽन्नजलाद्यभावेन प्राणांस्त्यजन्ति त्यक्तुं वा उद्यता भवन्ति । अत्र मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्चेति चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाच्छन्दसि सर्वविधीनां बाहुलकत्वाद्वा वर्त्तमाने क्तः (ये, जाताः) सद्यः प्रादुर्भूता अल्पवयस्काः पशुपक्ष्यादयोऽङ्कुररूपा वृक्षादयो वा (ये,च,यज्ञियाः) यज्ञकर्मणि प्रयोक्तुमर्हा ओषधिवनस्पतयोऽन्नादयो वा सन्ति (तेभ्यः) तेषां सुसम्पत्तये (घृतस्य) जलस्य । घृतमित्युदकनामास्ति निघण्टौ (व्युन्दती) विशेषेण तरला शीतलताविधायिनी (मधुधारा) मध्वा क्षारादिदोषवर्जिता धारा यस्याः

सा (कुल्या) कृत्रिमा सरित् (एतु) प्राप्नोतु । येन जगति सर्वेषां चराचराणां सम्यग्रक्षा स्यात् ॥

भा०—यत्र यत्र मरुदेशादौ जलं न मिलति महता कष्टेन वा प्राप्तं भवति । तेषु तेषु प्रदेशेषु सुगमतया निर्दोषमिष्टजलप्रापणाय देशहितैषिभिः श्रीमद्भिः प्रजापालनतत्परैश्च राजपुरुषैः कृत्रिमा सरिन्निस्सारणीया यतो जलेनैव सर्वस्य चराचरस्योत्पत्तिस्थिती सम्भवतः । अतः सर्वोपरिप्रधानमिदं धर्मानुकूलं कृत्यम् । एवं महोपकारकं धर्मकृत्यमस्मिन् मन्त्रे परमात्मनोपदिष्टं तच्च त्यक्त्वा निर्मूलमयौक्तिकमर्थं प्रतिपादयितुमीहमानाः किं विद्वज्जनैर्वाच्याः ?॥

भाषार्थः—अब इस पूर्वोक्त विचार पर पौराणिक लोग कहते हैं कि जैसा श्राद्ध और तर्पण तुमने पूर्व कहा वैसा वेद और मनु आदि धर्मशास्त्रों के अनुकूल हो सकता है क्या ? मन्त्रभाग संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह्यसूत्र, स्मृति, इतिहास—महाभारतादि और पुराण आदि श्रेष्ठ लोगों के माने हुए सम्पूर्ण पुस्तकों में मरे पितृ लोगों को श्रद्धा से पिण्डादि देना श्राद्ध है ऐसा वर्णन किया गया है। और वैसे ही अनादिकाल की परम्परा से सब लोग श्राद्ध करते आते हैं । वेदों में भी पितृयों के आह्वान का मन्त्र (आयन्तु नः०) और पिण्ड रखने का (पितृभ्यः स्वधायि०) मन्त्र है । इत्यादि मन्त्रों में श्राद्ध का वर्णन किया है । शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है कि नीबि को छोड़ छः बार नमस्कार करे । और कुशों पर पिण्ड धर के हाथ झार दे वा धो डाले इत्यादि प्रकार मनुस्मृति में भी श्राद्ध का पूरा विधान दिखाया है । गयाश्राद्ध से पितृजनों की मुक्ति हो जाती है इस को सब शास्त्रकार मानते हैं । और नैत्यिक वा गयाश्राद्धादि कर के पितृयों को तारने के लिये ही पुत्रों की आवश्यकता है सो कहा भी है कि पुत्रहीन अर्थात् निर्वंशी की अच्छी गति नहीं होती। इस प्रकार मरे हुए पितरों का श्राद्ध सर्वसम्मत है तो जो कोई लोग उस पर विश्वास नहीं करते वे नास्तिक हैं । और अथर्ववेद में स्पष्ट ही मरे हुए पितरों का तर्पण लिखा है कि "जो मरे' जीते, प्रकट हुए और यज्ञ सम्बन्धी पितर हैं उन सब के लिये सहतयुक्त जल की धारा प्राप्त

हो" इत्यादि प्रकार मरे हुए पितरों का तर्पण श्राद्ध वेदादि शास्त्रों में लिखे अनुसार सब को माननीय सिद्ध होता है ॥

ऐसे उक्त प्रश्न का अब समाधान—उत्तर दिया जाता है ध्यान पूर्वक सब महाशयों को देखना चाहिये। इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि जो वेद से भिन्न ब्राह्मणादि ऋषि प्रणीत पुस्तकों में भी जिस किसी प्रकार मरे हुओं का श्राद्ध मिलता है। इतने मात्र से वह कर्त्तव्य हो नहीं सकता क्योंकि वह इस समय साध्यकोटि के अन्तर्गत है। अर्थात आर्षपुस्तकों में भी स्वार्थी लोगों ने जब अनेक स्वार्थ लीला की बातें मिला दीं जिन को सभी विचारशील विवेकी लोग ऊट पटांग वा असम्भव समझते हैं। जिन बातों को लड़के भी अच्छा नहीं समझते जो सभ्यता से सर्वथा विरुद्ध हैं। तो वैसे ही अनेक शास्त्रीय प्रमाण और युक्तियों से विरुद्ध होने के कारण मरे हुओं का श्राद्ध भी आर्ष पुस्तकों में मिला दिया ऐसा अनुमान होता है। और अनेक स्थलों में मरों का श्राद्ध नहीं है वहां भी बुद्धि के भ्रान्त होने से वैसा ही दीखता है उस का कारण अज्ञान है। मरे हुए पितरों का यदि अनादिकाल से श्राद्ध चला है तो सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए ब्रह्मा आदि ने किन मरे पितृयों का श्राद्ध किया? और जब सब अन्य महायज्ञ ब्रह्मादि के करने में आ सकते और आये तो एक श्राद्ध ही सङ्घटित नहीं होता। और जब मरीच्यादि ऋषियों से अग्निष्वात्तादि पितृगणों की उत्पत्ति दिखायी है तो मरीचि आदि ने भी तर्पण श्राद्ध नहीं किये क्या?। और यदि किये तो क्या पितरों के स्थान में अपने पुत्रों का तर्पण श्राद्ध किया ऐसा तुम लोग मानते हो? क्योंकि जिन को तुम लोग अनादि पितृगण मानते हो वे मरीच्यादि ऋषियों से उत्पन्न हुए हैं उस से पहिले वे थे ही नहीं। इस से मरों का श्राद्ध अनादिकाल से चला यह ठीक नहीं। यदि कोई कहे कि निर्मूल वृक्ष खड़ा नहीं हो सकता इस न्याय से निर्मूल श्राद्ध कैसे चल गया तो इस का समाधान सुनो—जब पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञानी पुरुषों का अन्नादि उत्तम सामग्री से सत्कार रूप श्राद्ध करना हम लोग सनातन सिद्ध करते हैं तब निर्मूल श्राद्ध नहीं हुआ। क्योंकि ब्रह्मा और मरीचि आदि भी ऐसा श्राद्ध कर सकते थे अर्थात् उस समय भी ब्रह्मादि से भिन्न अन्य ज्ञानी लोग विद्यमान रहे। इससे हमारे मत में नित्य परम्परा से श्राद्ध करना बन सकता है। और मरे हुओं के श्राद्ध में जीवतों का श्राद्ध मूल है इस से निर्मूल नहीं कह सकते। दोनों पक्ष में श्राद्ध तो कर्त्तव्य ही

है अर्थात् उसके कर्त्तव्य होने में कुछ भी विवाद नहीं किन्तु प्रकार में और फल में विवाद है कि श्राद्ध किस प्रकार और किस लिये करना चाहिये। पौराणिक लोग कि जिनका पक्ष मरों का श्राद्ध कर्त्तव्य है। वे भी प्रत्यक्ष में जीवित लोगों का ही सत्कार रूप श्राद्ध करते हैं। अर्थात् मरे हुए पितृ जन कहीं आकर भोजन करते हों ऐसा कोई नहीं मान सकता केवल हठ पूर्वक कहते रहना ही विवाद का स्थान है। और फल में विवाद यह है कि श्राद्ध करने वाला फलभागी होता है किन्तु मरे पितृयों को फल नहीं पहुंचता यह सिद्धान्त पक्ष है। और अन्य लोग कहते हैं कि नहीं मृत पितरों को श्राद्ध का फल पहुंचता है। सो यह पक्ष इस लिये भी ठीक नहीं कि सब शास्त्रकार पुकार २ कहते हैं कि जो जैसा कर्म करता है उसको अगले जन्म में वैसा फल अवश्य मिलता है। यदि किसी के पिता ने अधिकांश अधर्म किया और शास्त्र की मर्यादा वा न्यायानुकूल उस को नरक रूप दुःख भोग मिलना चाहिये। परन्तु उसका पुत्र श्राद्ध करके अच्छा फल पहुंचा रहा है तो क्या होना चाहिये। यदि पूर्व कर्मानुसार उसको दुःख मिले तो श्राद्ध फल पहुंचना नहीं बनेगा और श्राद्ध का फल पहुंच कर सुख मिला तो बुरे कर्मों का नियत फल कहने वाले शास्त्र व्यर्थ हुए। और जिसके पूर्व से ही अच्छे कर्म हैं उससे बुरे कर्मों वाले का भेद ही क्या रहा? दोनों ही सुख भागी हुए तो अच्छे कर्म वा धर्म का उद्योग करना निष्फल हुआ अर्थात् इन दो बातों में एक ही सिद्ध हो सकती है कि चाहें परलोक सहायार्थ धर्म की आवश्यकता ठहरा लो और चाहें श्राद्ध को परलोक सहायक मान लो। इस दशा में जिन लोगों ने पुत्र उत्पन्न किये और श्राद्धादि करने की उनको ठीक २ शिक्षा भी कर दी तो वे भले ही मरण पर्यन्त पाप किया करो पुत्र लोग गयादि श्राद्ध कर के जन्मान्तर में तो तार ही देंगे फिर ऐसी दशा में धर्म करने का उपदेश करने वाले सब धर्मशास्त्र मिथ्या होंगे। और धर्मशास्त्रकार इस से विरुद्ध स्पष्ट पुकार२ कर कहते हैं कि—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥ म० अ० ४। २३९

परलोक अर्थात् जन्मान्तर में सहायता करने के लिये पिता माता और स्त्री पुत्रादि नहीं ठहर सकते अर्थात् तेरे सहायक जो माता पिता स्त्री पुत्रादि यहां

प्रत्यक्ष में हैं वे वहां साथ नहीं जायंगे जैसे यहां तेरे सुख दुःख में साथी हो जाते हैं वैसे वहां न पहुंचेंगे और वहां कुछ सहायता नहीं पहुंचा सकेंगे अर्थात् जैसे यहां तुझ पर किसी बुराई का फल विपत्ति आपड़े तो यथाशक्ति ये सब सहायता करते वा कर सकते हैं वैसे यहां के किये अधर्म की विपत्तिरूप दुःख की प्राप्तिमें ये लोग कुछ भी सहायता न कर सकेंगे। इन लोगों के भरोसे तू कदापि पाप न कर कि ये किसी प्रकार श्राद्धादि द्वारा मुझे कुछ सुख पहुंचावें। किन्तु एक धर्म ही तेरी सहायता करेगा जिस का तुम ने यहां उपार्जन किया होगा । इस कारण पिता मातादि को भी सुख पहुंचाने के लिये तू अधर्म न कर के अपना परमार्थ सुधारने के लिये यहां धर्म का उपार्जन कर। इस पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि मानवधर्मशास्त्र के सिद्धान्त से भी श्राद्ध का फल मरे हुए पितृ लोगों को नहीं पहुंचता ॥

हम इस अंश का विचार पूर्वक अनुसन्धान करते हैं कि मृतकों के श्राद्ध की परिपाटी क्यों चली तो अनुमान होता है कि पहिले जब कोई मरता था तब उस के सम्बन्धी लोग अब के तुल्य शोकसमुद्र में डूबते थे ऐसी दशा देख कर उन के उपदेशक गुरु लोग उपदेश द्वारा अपने शिष्यों का शोक दूर करने के लिये स्वयं आते वा शिष्यों के बुलाने पर आकर उन के शोक की निवृत्ति का उपाय करते थे और उस समय शिष्य लोग उन का सत्कार बिशेष कर इस कारण करते थे कि शोक निवृत्ति होने से उन का अन्तःकरण उन्हीं के द्वारा प्रसन्न होता था । यह परम्परा कुछ काल तो ठीक २ चली पीछे अविद्या में फँसे लोगों ने आप ही कल्पना करली होगी कि इन ब्राह्मणों का सत्कार करने से मृतक लोगों की तृप्ति होती है । तब से लेकर मरे हुओं का श्राद्ध प्रवृत्त हुआ ऐसा अनुमान हो सकता है । अथवा ज्ञानी लोगों का सत्कार सेवन भी पुण्य कर्म है वह पुण्य यदि शोक समय में किया जाय तो शोक की निवृत्ति होना सम्भव है इस कारण शोक समय में पुण्य करना चाहिये अथवा किसी के मरने पश्चात् शेष रहे मरे के सम्बन्धी भाई आदि शोक से व्याकुल होने के कारण किसी प्रकार धनादि पदार्थों से बिरक्त होते हैं उस समय भोजनादि का दान उन से सुगमता के साथ किया जाता वा हो सकता है। क्योंकि शोक और उत्सव से भिन्न समय में कोई उदार ही पुरुष धन का व्यय कर सकता है किन्तु कृपण वा साधारण मनुष्य का साहस नहीं पड़ सकता कि वह प्रत्येक समय धन का व्यय कर सके। इस प्रकार

अनेक दीर्घदर्शी विचारशील पूर्वज लोगों ने मरने पश्चात् और पुत्रादि की उत्पत्तिरूप उत्सव समय में दान पुण्य और ज्ञानियों के सत्कार करने का उपदेश किया कि जिस से कृपण लोग भी लोक लज्जा वा दबाव आदि से ही कुछ धर्म अवश्य कर सकेंगे। इसी अंश को कुछ काल पीछे मूर्खों ने मरों की तृप्ति पर लगा दिया कि मरने पश्चात् किये हुये दान पुण्य और सज्जनों के सत्कार का फल मरे हुओं को पहुंचता है और उन को फल पहुंचाने के लिये ही मरणानन्तर किया जाता है ऐसी कल्पना कर के कुछ काल पीछे पिण्डादि बना कर कुशों पर रखने की कल्पना भी कर ली गयी। और उस अपने अनुभव वा अनुमानरूप पिण्डादि रखने की परिपाटी को अनेक सद्ग्रन्थों में भी मिलाया कि जिस से आगे बराबर चली जावे। ऐसा अनुमान से प्रतीत होता है। इस प्रकार इस अन्यथा चले मृतकश्राद्ध का मूल सत्य सनातन श्राद्ध है इस से निर्मूल नहीं और न मृतक श्राद्ध अनादिकाल से प्रवृत्त सनातन है यह सिद्ध हुआ॥

और एक यह भी अनुमान होता है कि कदाचित् विद्या का पढ़ना और ब्रह्मचर्य आश्रम का सेवन जब किन्हीं कारणों से छूटा वा आलस्यादि अवगुण अधिक बढ़े तो अनेक उदरम्भर स्वार्थी धर्मध्वजी नाममात्र के ब्राह्मणों ने विचारा हो कि अब हम लोग श्राद्ध के योग्य (जैसे कि मनु आदि शास्त्रों में लिखे हैं) नहीं रहे तो हम को श्राद्ध में कोई न बुलावेगा। और श्राद्ध भी कोई न करेगा तो यह युक्ति अच्छी है कि मरों का नाम लगा देने से लोग अवश्य श्राद्ध करें गे। और श्राद्ध होंगे तो हम को भोजन भी कराया ही जावेगा। कोई भी मनुष्य अपने नाम से भोजन वा दान दक्षिणा नहीं मांग सकता, मांगे तो सङ्कोच होता है परन्तु अन्य के लिये वैसा सङ्कोच नहीं होता इस कारण मृतपितृयों को फल पहुंचने के लिये भोजन दान पुण्य आदि का उपदेश चलाया हो यह सम्भव है। यदि ऐसा हो तो चलाने वाले विशेष कर अधर्मी हुए और पहिले विचारानुसार चला तो अज्ञान मूल कारण हुआ॥

यदि बहुत काल से वा ऋषि और आर्यराजाओं के समय से ही कदाचित् मृतकों का श्राद्ध चला आया हो और बहुत काल से प्रवृत्त होने के कारण यदि प्रामाणिक ठहर जावे तो क्या चोरी बहुतकाल से नहीं चली आती है? क्या चोरी आदि अधर्म बीच से चल गये? और क्या बहुतकाल से चोरी भी चली आती है तो अच्छे लोग भी चोरी करें? इस का अभिप्राय यह नहीं कि श्राद्ध भी

चोरी के तुल्य नीच कर्म है किन्तु तात्पर्य यह है कि मृतकों के उद्देश से श्राद्ध करना श्राद्ध के मुख्य अभिप्राय पर नहीं पहुंचाता इसी से श्राद्ध विषयक वेदादिशास्त्रों की आज्ञा का पालन हुआ भी नहीं कहा जा सकता तथा कुछ व्यर्थ भी करने पड़ता है। और (आयन्तुनः०) इत्यादि मन्त्रों का अर्थ ज्ञानी लोगों के पितृ मानने में ही निर्दोष और ठीक बनता है। किन्तु मरों के पितृ मानने में नहीं "सोम नाम शान्ति वा सहनशीलता रखने के योग्य तथा आहवनीयादि अग्नि के ग्रहण करने हारे अर्थात् ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धर्म पूर्वक वेदोक्त रीति से सेवन करने वाले हमारे रक्षक पितर लोग श्रेष्ठ पुरुषों की चाल के साथ आवें" इस अर्थ से मरे पितरों के आह्वान का कुछ भी संकेत नहीं और न कोई ऐसा विशेषण है कि जिस से मरे पितृ लोग ही समझे जावें और उक्त सोम्यास आदि विशेषण मरों में कदापि घट भी नहीं सकते। कदाचित् अग्निष्वात्त पद का कोई यह अर्थ करे कि अग्नि में जलाये वा भस्म किये गये। और कोई लोग यह भी कह सकते हैं कि अग्निष्वात्तशब्द का अर्थ तुम्हारा ही ठीक रहे वा अन्य हो तो भी पितृयों के श्राद्ध प्रकरणस्थ वेद मन्त्रों में—

"ये अग्निदग्धा अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते"

इत्यादि मन्त्र भी आते हैं जिन का बहुत स्पष्ट होने से अर्थ बदला भी नहीं जा सकता क्योंकि "दह भस्मी करणे" धातु का रूप ही दग्ध होता है अर्थात् "जो पितर अग्नि से जले वा अग्नि से न जले हों ऐसे पितरों को हविष्य खाने के अर्थ मैं बुलाता हूं।" अब इस का भी उत्तर विचारने योग्य है कि अग्नि से पितरों का जलना कैसे हो सकता है?। पितर नाम यदि शरीर का रक्खो तो यह बात घट सकती है कि अग्नि से जले पितर, परन्तु जो शरीर अग्नि से जला दिया गया। वह उसी समय भस्म हो गया अब उसको श्राद्ध में बुलाना वा उसके लिये श्राद्ध का फल पहुंचाना दोनों बातें असम्भव हैं। यदि पितर नाम जीवात्मा का मानो जिस का बुलाना बन सकता है परन्तु वह अग्नि से नहीं जलाया गया क्योंकि शरीर के जलाने से पहिले ही वह निकल गया और उस के निकल जाने से ही शरीर जलाया गया। तो उन जीवात्माओं के साथ अग्निदग्ध विशेषण लग ही नहीं सकता। यदि कहो कि चेतन शरीर का नाम पितर है तो चेतन शरीर भी जलाया नहीं गया। इस प्रकार किसी रीति से मृतकों के श्राद्ध पक्ष का अर्थ नहीं बनता और इसी प्रकार जीवात्मा को किसी का पिता वा पुत्र भी नहीं कह सकते क्योंकि उपनिषद् में स्पष्ट निषेध भी किया है कि—

नैव स्त्री न पुमानेष नचैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेनतेन स युज्यते ॥ श्वेताश्वतरे०

इससे भी स्पष्ट सिद्ध है कि आत्मा कोई किसी का पिता पुत्रादि नहीं किन्तु जब तक शरीर के साथ संयोग रहा तब तक पिता पुत्रादि नाम से माना गया । इससे जीवात्माओं को पीछे किसी के पितर कह भी नहीं सकते । तथा इसी प्रकार "मृताः" यह भी पितरों का विशेषण नहीं बनता क्योंकि मरण नाम प्राण वियोग का है वह शरीर से हुआ अर्थात् शरीर से प्राण निकल गये तो मरे पितर शरीरों को कह सकते हैं सो शरीर शीघ्र ही जलने आदि द्वारा मट्टी में मिल जाते हैं । फिर उनका भी बुलाना नहीं हो सकता । अब यदि कोई कहे कि अच्छा हमारे पक्ष में अग्निदग्ध आदि पदों का अर्थ नहीं बनता तो तुम क्या अर्थ करते और अपने पक्ष में कैसे घटाते हो ? इसका उत्तर यह है कि "अग्नि द्वारा भूंजे वा पकाये गये वा स्वयंकालपक्क सामयिक फलादि दोनों प्रकार के पदार्थ ज्ञाननिष्ठ पितृ लोगों के भोजनार्थ उपस्थित करने चाहिये" अर्थात् अग्निदग्ध आदि पद भोग्य वस्तुओं के विशेषण हैं । यदि वहां पितृ शब्द भी हो तो वेद का यौगिकार्थ होने से रक्षक पदार्थों का विशेषण माना जावेगा । इत्यादि प्रकार सब अर्थ ठीक है केवल बुद्धि पर थोड़ा बल देना चाहिये । इस सब कथन से सिद्ध हुआ कि (आयन्तु नः०) इस मन्त्र में पितृ शब्द से जीवते हुए ज्ञानी पितृयों का ग्रहण है । द्वितीय पिण्ड धरने का मन्त्र कहा सो भी ठीक नहीं क्योंकि उसमें पिण्ड वा धरने का कुछ भी संकेत नहीं है । और शतपथ ब्राह्मण का प्रमाण दिया उस में भी मरों का नाम न होने से वैसा अर्थ नहीं आता और कदाचित् मृतकों के श्राद्ध करने का उपदेश शतपथादि में किसी अभिप्राय से निकल आवे तो भी सिद्धान्त पक्ष में कोई दोष नहीं आता क्योंकि जब वेद का सिद्धान्त नहीं तो वेद से विरुद्ध और प्रमादादि दोषयुक्त लेख उन में भी हो सकता है । और मनुस्मृति के तृतीयादि अध्यायों में अनेक श्लोक मरों का श्राद्ध बताने के लिये हैं इस बात का हम को भी स्वीकार है परन्तु उन श्लोकों के वहां लिखे होने मात्र से वैसा श्राद्ध कर्त्तव्य सिद्ध नहीं होता । ऐसा हो तब तो चोरी वा परस्त्री गमन भी अनेक स्थलों में किसी विशेष प्रयोजन से वा निषेध के लिये लिखा है तो क्या चोरी आदि कर्त्तव्य होगा ? । प्रयोजन यह

कि लिख देने मात्र से किसी कार्य का कर्त्तव्य वा अकर्त्तव्य होना सिद्ध नहीं हो सकता किन्तु जिस को विधान की रीति से अर्थवाद सहित लिखा हो वही कर्त्तव्य है। तो भी इस का विशेष निश्चय तृतीयाध्याय के प्रक्षिप्त समीक्षा प्रसङ्ग में आगे करेंगे ॥

और गयाश्राद्ध तो दूसरों के पदार्थ हरने वाले वहां के धूर्त्त लोगों ने अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये कल्पना किया है ऐसा अनुमान होता है। यदि कोई विद्वान् इस को ध्यान देकर विचारे तो सिद्ध हो जायगा कि गयाश्राद्ध के होने से पौराणिक मत में श्राद्ध नित्यकर्म नहीं ठहर सकता क्योंकि गयाश्राद्ध किये पश्चात् पितरों की मुक्ति हो जाती है वा ऐसी दशा में वे पहुंच जाते हैं कि पुत्रों के किये श्राद्धफल के भोग की इच्छा शेष नहीं रहजाती तो गयाश्राद्ध करने पीछे किसी को श्राद्ध न करना चाहिये और सभी लोग पिता के मरने पश्चात् एक दो वर्ष में गयाश्राद्ध करदेंगे पीछे श्राद्ध करना निष्फल वा निष्प्रयोजन है क्योंकि मरे को मरना व्यर्थ है इस प्रकार "सब को नित्यश्राद्ध करना चाहिये" इत्यादि प्रकार की धर्मशास्त्र की आज्ञा भी नहीं बन सकती क्योंकि श्राद्ध सदा नहीं हो सकता। और यह दोष जीवतों का श्राद्ध मानने वालों के पक्ष में नहीं आ सकता। क्योंकि वे अपने कल्याण के लिये नित्यश्राद्ध करें जैसे कि अग्निहोत्रादि करते वा करने चाहिये वैसे श्राद्ध भी नित्य कर्त्तव्य बन जाता है। और गयाश्राद्ध से यदि पितरों का मोक्ष हो जाता है तो "परमेश्वर के ज्ञान से भिन्न मोक्ष का अन्य मार्ग नहीं" इस वेद के मन्त्र से विरुद्ध है अर्थात् ज्ञान के बिना मोक्ष होना असम्भव है। और इन लोगों का यह भी कहना ठीक नहीं कि मृतकश्राद्ध करने के लिये सब शास्त्रों का सिद्धान्त है। किन्तु मतवाद से भरे हुए पुराणों का यह मत है।

तथा पुत्र के विना गति नहीं होती यह भी एकदेशी वाक्य है अर्थात् सर्वसम्मत नहीं है। क्योंकि जब स्पष्ट लिखा है कि "ब्रह्मचर्य आश्रम से, घर से वा बन से जब पूर्ण पक्का वैराग्य हो जावे तभी मनुष्य विरक्त बने" इत्यादि ब्राह्मण और उपनिषद् के वचनों की आज्ञानुसार ब्रह्मचर्याश्रम से संन्यास ग्रहण परमार्थसिद्धि वा मोक्ष होने के लिये है वह संन्यास मिथ्याभाव को प्राप्त होगा। क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम से ही जिस ने संन्यास धारण किया वह सन्तानों को उत्पन्न नहीं करेगा। और संन्यास आश्रम का प्रयोजन यही है कि जिस से परमार्थ में

अच्छी गति हो। यदि बिना पुत्र के संन्यास धारण करने पर भी सुगति न हुई तो "ब्रह्मचर्याश्रम से ही विरक्त हो जावे" इत्यादि प्रकार के शास्त्र के वचन व्यर्थ हुए। और मनु जी ने भी बिना पुत्रों के सुगति होना स्पष्ट ही कहा है कि "जिन्हों ने कुल सन्तति अर्थात् पुत्रादि उत्पन्न नहीं किये ऐसे सहस्त्रों क्वारे तपस्वी ब्राह्मण प्रकाशमय परमेश्वर को प्राप्त हुए—मुक्त हो गये" इसी प्रकार जन्म से लेकर ब्रह्मचारी, सन्तति रहित भीष्म जी आदि महात्मा लोगों की सुगति होना इतिहासादि में प्रसिद्ध ही है। इस कारण बिना पुत्र के गति नहीं होती इस वाक्य का अन्य ही प्रयोजन है किन्तु जन्मान्तर में सुख देने से अभिप्राय नहीं कि पुत्रों वाले ही जन्मान्तर में सुख भोगें और निर्वंशी दुःख में ही पड़ें॥

अब एक विचार यह भी है कि हम लोगों के जो पितादि मर गये हैं उन के यदि योगाभ्यास और ईश्वर की उपासनादि शुभकर्म सञ्चित हैं कि जिन को उन्होंने अपने वर्त्तमान समय में सञ्चित किया तो उन शुभकर्मों के फल से पितृयों की सुगति अवश्य हो जायगी सो यह बात भगवद्गीता के छठे और दूसरे अध्याय में भी कही है कि "हे अर्जुन! अच्छे धर्मयुक्त कर्म करने वाला कोई पुरुष दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। और थोड़ा भी धर्म का सञ्चय किया हुआ बड़े प्रबल दुःख से बचा देता है" इस से सिद्ध हुआ कि इस जन्म में परिश्रम से उपार्जन किया धर्म ही जन्मान्तर में सुख देता है। इस प्रकार धर्मात्मा हों गे तो हमारे पितादि अपने कर्मों से ही तरजायं गे उन के लिये श्राद्ध का फल पहुंचने की कल्पना करना व्यर्थ है। कदाचित् कोई मनुष्य धर्म करता हुआ भी दुर्गति को प्राप्त हो तो जिस को अपने ही शुभ कर्मों से सुख न मिला तो वह पुत्रादि के किये श्राद्ध से सुख पा सकता है? और जैसे धर्मात्मा दुर्गति को प्राप्त हो तो पापी भी सुगति को प्राप्त हो सकता है यद्यपि यह असम्भव है कि धार्मिक दुःखी और अधर्मी सुखी रहें तथापि इस का अभिप्राय यह ठीक होगा कि जिस के पूर्व सञ्चित पाप अधिक हैं और वर्त्तमान का धर्म सेवन उन पापों से अधिक प्रबल नहीं होता तब तक धर्म करने पर भी वह दुःख भोगे गा और जिस का पूर्व सञ्चित धर्म अधिक है वह वर्त्तमान में पाप करने पर भी तब तक सुख भोगेगा कि जब तक पूर्व धर्म को दबाने वाला प्रबल पाप न बढ़ जावे। इस प्रकार धर्म का फल दुःख और अधर्म का सुख कदापि नहीं ठहर सकता। और कदाचित् कहीं ऐसा ही निश्चित जान पड़े कि उलटा फल होता है तो धर्म अधर्म

के लक्षण समझने की भूल माननी पड़े गी अर्थात् जिस का परिणाम सुख हो वह धर्म और जिस का परिणाम वा फल दुःख हो वही अधर्म है। क्योंकि अनेक लोग धर्माभास के भी धर्म मान कर उसके दुःख फल को धर्म का परिणाम ठहराने लगते हैं यह उन लोगों का दोष है। इस प्रकार मरों को फल पहुंचाने के लिये श्राद्ध करना निष्फल है क्यों कि जैसे नियतविपाक सञ्चित धर्म का फल अवश्य मिलता है उस से जैसे मरे हुए धर्मात्मा पिता के लिये श्राद्ध करना निष्फल हुआ वैसे निश्चित फल वाले अधर्म का भी दुःख फल अवश्य प्राप्त होगा इस से वैसे ही अधर्मी पिता के लिये भी श्राद्ध करना निष्फल आता है। तिस से मरों के निमित्त श्राद्ध न करना चाहिये किन्तु जीवित ज्ञाननिष्ठ पितृयों का श्राद्ध करना चाहिये ॥

निर्वंशी पुरुष की सुगति नहीं होती इस का तात्पर्य यह है कि संसारी अर्थात् गृहाश्रम सेवने वाले मनुष्य को पुत्रादि उत्पन्न अवश्य करने चाहिये यह आज्ञा भी शास्त्रों में है इस आज्ञा के मुख्य कर दो ही प्रयोजन हैं। एक स्वार्थ और द्वितीय परमार्थ उन में स्वार्थ तो लोक में भी प्रसिद्ध है—जैसे संसारी मनुष्य कहते हैं कि कोई सुपूत उत्पन्न हो तो बुढ़ापे में कमाई खवावेगा। अर्थात् भोजन वस्त्रादि से हम को तृप्त करेगा। और कुपूत लोगों से पितादि की रक्षा होना तो दूर रही किन्तु पितादि के नाम को कलङ्कित करते और ताड़नादि द्वारा भी दुःख पहुंचाते हैं। इसी विचारानुसार नीतिशास्त्रों में लिखा है कि "पुत्र उत्पन्न नहीं हुए वा हो कर मरगये अथवा मूर्ख हुए इन तीनों दशा में से पहिली दो दशा अच्छी हैं अर्थात् मूर्ख पुत्र की अपेक्षा उस का न होना वा हो कर मर जाना अच्छा, क्योंकि उन दो का तो स्मरण आने पर दुःख होता परन्तु मूर्ख पग २ में दुःख देता है। सौ मूर्खों की अपेक्षा एक गुणी पुत्र अच्छा है। जैसे एक ही सुगन्धित पुष्पयुक्त वृक्ष से सब वाटिका शोभित वा सुगन्धित हो जाती है वैसे एक भी पुत्र से कुल की शोभा वा सुख मिलता है" इत्यादि नीति के वाक्यों का यही अभिप्राय है कि जो कुल का दीपक एक ही सुपुत्र सब कुल को सुखी कर देता है और उसी पुत्र के कारण उस कुल की विख्याति वा प्रतिष्ठा जगत् भर में हो जाती है ऐसे पुत्र को उत्पन्न करने के लिये सब गृहस्थों को यत्न करना चाहिये। जैसा सुख सुपूती कुल वा पितादि को मिलता है वैसा पुत्रहीन को कदापि नहीं मिल सकता। इसी से महाभारत उद्योगपर्व में कहा है कि पुत्र का आज्ञाकारी होना भी संसारी मनुष्य को एक बड़ा सुख है। और वृद्धावस्था में प्रायः

मनुष्यों की शक्ति भी कम हो जाती है और शक्ति के जीर्ण हो जाने से ही वृद्ध कहाता है उस समय अशक्त वृद्धपुरुष अपने हाथ पग आदि से अपने शरीर का भी सब काम नहीं चला सकते तो धनादि का उपार्जन करना वा भोजनादि बनाना तो अति कठिन है। ऐसे अत्यन्त सामर्थ्यहीन होने के समय में पहिले का सञ्चित धनादि पदार्थ भी यदि निकट में नहीं है तो अच्छे पुत्र अपने परिश्रम से धनादि का उपार्जन कर और भोजनादि दे कर सब प्रकार की सेवा से पितादि की रक्षा करें और जिन वृद्धों के समीप पहिला संचित धनादि है उन को भी भृत्यों से वैसा सुख नहीं मिल सकता कि जैसा घृणादि त्याग कर अपना पुत्र सुख दे सकता है। और लोक में जिन के पुत्र नहीं उन को मरते समय वृद्धावस्था में प्रायः अच्छी रीति से सुख नहीं मिलता। और जो कुछ धनादि ऐश्वर्य मनुष्य अपने जन्म भर में जोड़ता है उस की आगे रक्षा करने और कुल की परम्परा चलाने के लिये भी पुत्रों की आवश्यकता है क्योंकि अन्य के धन से अन्य पुरुष उस के अभीष्ट ही कार्य नहीं करता किन्तु सुपुत्र पिता के उपार्जन किये धन से पिता के अभीष्ट कार्यों को ही प्रायः सिद्ध करता है। अर्थात् कहीं २ पिता के शत्रु से पुत्र बदला भी ले लेता है इत्यादि प्रकार से पुत्र की उत्पत्ति मुख्य कर सज्जन पुरुष संसारी स्वार्थ अर्थात् अपने लिये धन प्रतिष्ठा वा सुख होने के लिये वा उन माता पितादि का नाम चलने के लिये मानते हैं॥

और परार्थ यह है कि—परमेश्वर ने धर्म की रक्षा और व्यवस्था करने वा मर्यादा और नियमों का पालन करने के लिये मनुष्य को बनाया है इसी लिये कहा है कि "भोजन करना, सोना, भय और मैथुन ये सब कर्म पशु और मनुष्यों में तुल्य हैं परन्तु मनुष्यों में एक धर्म अधिक है इस से जो मनुष्य धर्म नहीं करता वह पशु के समान है" इस से धर्माचरण करने वाले मनुष्य को चाहिये कि युवावस्था में ही मरण से पूर्व अपना प्रतिनिधि पुत्र को उत्पन्न कर देवे। परमेश्वर की सृष्टि में जैसे स्वयं धर्म का सेवन करता था वा करता है अर्थात् अपने घर से जिस २ का जैसा २ उपकार करना प्रारम्भ किया हो वा जो २ धर्मसम्बन्धी दानादि कर्म कुल की परम्परा से नियत चले आते हों उन कर्मों का पिता ने भी जैसा सेवन किया हो वैसा ही करने के लिये पुत्र को शिक्षा करे जिस से वृद्ध पिता के मर जाने पर भी उपकार सम्बन्धी कार्य वैसा ही निर्विघ्न चला जावे॥

गृहस्थ पुरुष मैथुन मात्र करता रहे और पुत्र नहीं तो शोचनीय दशा है इत्यादि प्रकार नीति के उपदेश से सूचित होता है कि स्त्री सम्बन्ध रूप गृहाश्रम

का पुत्रोत्पत्ति फल है यदि गृहस्थ केवल मैथुन करे किन्तु पुत्रोत्पत्ति की रीति न करे तो उस का विवाह करना निरर्थक है और परमेश्वर ने जगत् की स्थिति से धर्म बढ़ाने के लिये संसार को रचा है यदि पुत्रों की उत्पत्ति का उपाय न किया जाय तो वृद्धों के मरते जाने और नवीन सन्तानों के उत्पन्न न होने से कभी सब का अभाव होना प्राप्त है और ऐसा होना परमेश्वर की इच्छा से विरुद्ध है इसमे परमेश्वर का अभिप्राय है कि सन्तानोत्पत्ति मनुष्य को करनी चाहिये। जो ऐसा नहीं करता वह परमात्मा की आज्ञा का तोड़ने वाला है। ऐसा मान कर उसकी सुगति न हो यह कह सकते हैं इस से विना पुत्र के गति नहीं यह सामान्य प्रकार सिद्ध हो गया। परन्तु कहीं विशेष दशा में जो ब्रह्मचर्याश्रम से ही बाल ब्रह्मचारी विरक्त हो जाते हैं और वे गृहाश्रम भी नहीं करते। वे पुत्रों को उत्पन्न करके उतना उपकार नहीं कर सकते कि जितना जन्म भर ब्रह्मचर्याश्रम के साथ रहने वाले कर सकते हैं। इस कारण वे कुमारब्रह्मचारी निर्बंशी के दोष से दूषित नहीं होते। और वृद्धावस्था में गृहस्थ के तुल्य क्षीण न होने से शिथिल भी नहीं होते कि जिन को पुत्रों के विना दुःख भोगने पड़े। और युवावस्था में वे विरक्त धर्मोपदेशादि द्वारा बहुतों का बड़ा २ उपकार करते हैं उन को प्रत्युपकाररूप सेवा करने वाले शिक्षित शिष्य वृद्धावस्था में मन वाणी और शरीर से निरन्तर सेवा कर के सन्तुष्ट करते हैं। इस प्रकार विद्या और धर्म के सम्बन्धी उनके अनेक शिष्य पुत्रवत् ही होते हैं॥

अब श्राद्ध में पिण्ड दान क्यों चला इस पर थोड़ा सा विचार लिखा जाता है "चार पिण्ड प्रातःकाल और चार सायंकाल नियम पूर्वक खावे तो शिशुचान्द्रायण कहेंगे" इत्यादि मनुस्मृति के श्लोकों में ही पिण्ड शब्द ग्रास का पर्याय वाची माना गया है। पिण्ड शब्द के यथासम्भव अन्य भी अर्थ हो सकते हैं। तो भी श्राद्ध में ग्रास का पर्यायवाची लेना उपयोगी है। और चान्द्रायणादि व्रतों में ग्रास का लक्षण लड्डू के आकार का है। इसी प्रकार लड्डू आदि के समान बने हुए सब पेड़ा आदि मिठाई पिण्ड कहाते हैं। खीर आदि सर्वोत्तम स्वादिष्ठ वस्तुओं से बनाये पिण्ड ज्ञानी पितृजनों के भोजन योग्य वस्तुओं में सर्वोत्तम होने से उपयोगी होते थे ऐसा अनुमान होता है। पीछे जब मरों के लिये श्राद्ध करना किन्हीं लोगों ने चलाया तब से पिण्डों की भी दुर्दशा होने लगी कि जो इस समय अधपिषे भूसी सहित केवल कच्चे जौ के ही प्रायः जैसे

तैसे दिये जाते हैं। कि जैसा घोड़ा बैल आदि पशुओं को दाना देते हैं क्या यह पिण्डों की थोड़ी दुर्दशा है ?। "पितृ लोगें को पिण्ड देने चाहिये" इत्यादि प्रकार पुराने पुस्तकों के श्राद्ध प्रकरण में जहां २ लिखा है उस का आशय यह है कि लड्डू पेड़ादि गोलरूप मिठाई भोजन समय में पितृ लोगों को देना चाहिये। इस से पीछे अविद्या के प्रभाव से मुख्य अभिप्राय न जान कर मरों के लिये पिण्ड देने चाहिये ऐसी कल्पना किन्हीं लोगें ने की हो ऐसा अनुमान होता है। सो यह मरों के लिये पिण्ड देने की कल्पना करना ठीक नहीं।

अथर्व वेद में भी तर्पण का विधान नहीं है। अर्थात् जो कोई लोग उस (येजीवा०) मन्त्र से मृत पद को देख कर मरों का तर्पण निकालते हैं उन को "जीवाः" पद को देख कर जीवतों का भी तर्पण निकालना चाहिये। यदि कोई कहे कि जीवा पद मृत शब्द का विशेषण है तो उसके मत में समुच्चय अर्थ के लिये पढ़ा चकार निरर्थक हो जायगा अर्थात् समुच्चयार्थ पढ़े चकार से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मृता और जीवा भिन्न २ पद हैं। और सर्वनाम वाची यत् शब्द के चार प्रयोग मन्त्र के पूर्वार्द्ध में ही पढ़े हैं उन से भी सब का पृथक् होना सूचित होता है। कथनमात्र कोई करे किन्तु उक्त अथर्ववेद के मन्त्र का अर्थ मरे हुए पितृयों के तर्पण पक्ष में यथावत् कोई नहीं घटा सकता। इस कारण इस मन्त्र से मरों के तर्पण का नाम भी नहीं निकलता किन्तु संसार का उपकार करने वाली एक प्रकार की विद्या इस से निकलती है उस का संक्षेप से व्याख्यान निम्न लिखित प्रकार जानोः—

अ०—(ये,जीवाः) जो किसी प्रकार कष्ट के साथ अन्न जलादि को पाकर प्राण का धारण करते (च) और (ये, मृताः) जो अन्न जलादि के न मिलने से मरते प्राण छोड़ते वा छोड़ने को उद्यत होते हैं (ये,जाताः) जो शीघ्र प्रकट हुए थोड़ी अवस्था के पशु पक्षि आदि के बच्चे वा अङ्कुररूप वृक्षादि (च) और (ये, यज्ञियाः) यज्ञकर्म में उपयुक्त होने वाले ओषधि वनस्पति वा अन्नादि हैं (तेभ्यः) उन के अच्छे प्रकार होने के लिये (घृतस्य) जल की (व्युन्दती) शीतलतागुण पहुंचाने वाली (मधुधारा) खारीपन आदि दोष रहित जिस की मीठे स्वादिष्ट गुणकारी जलयुक्त धारा हो ऐसी (कुल्या) कृत्रिम बनावटी नदी—नहर (एतु) प्राप्त हो जिस से जगत् में सब चराचर प्राणियों की रक्षा हो॥

भा०—जिस २ मरु आदि देश में जल नहीं मिलता वा बड़े कष्ट से मिलता है उन २ प्रदेशों में सुगमता से सर्व दोष रहित मीठा जल प्राप्त होने के लिये

देशहितैषी धनाढ्य वा प्रजापालन में तत्पर राजपुरुषों को नवीन नदी-नहर-निकालनी चाहिये क्योंकि जल से ही सब चराचर की उत्पत्ति होना और स्थिति रहना सम्भव है। इस लिये सब से ऊपर यह धर्मानुकूल कर्म है। इस प्रकार बड़े उपकारी धर्मसम्बन्धी कृत्य का इस मन्त्र में परमेश्वर ने उपदेश किया है उस को छोड़ कर अयुक्त निर्मूल अर्थ को प्रसिद्ध करने की चेष्टा करने वालों से विद्वान् लोग क्या कहेंगे ? ॥

पूर्वं यच्छ्राद्धप्रसङ्ग उक्तं तेन मानवधर्मशास्त्रस्य सिद्धान्तो निस्सृतो यज्जीवतां ज्ञानिनां श्रद्धया भोजनादिसत्काररूपं श्राद्धं कार्यम्। मृतानां च श्राद्धकल्पनं न धर्मशास्त्रस्थसिद्धान्तानुकूलमिति ॥

अत्र केचिद्वदन्ति श्राद्धेन पिण्डदानेनैव दायभागः सम्पद्यते यो यस्मै पिण्डं दातुं धर्मशास्त्रानुसारेणाधिकृतः स्यात्सएव तस्य दायभाग्भवति। अस्य विवेचनमग्रे दायभागप्रसङ्गे करिष्यते।

केचिदत्र श्राद्धप्रसङ्गे वदन्ति किमन्यकृतस्य कर्मणोऽन्यः फलं जगति भुङ्क्तउताहो न ?। यदि भुङ्क्ते तदा पुत्रकृतस्य श्राद्धस्य फलं पिता कथं नाप्नोति ?। यदि नो भुङ्क्ते तदा प्रत्यक्षादेव विरुद्धमेतत्। यथा पित्रोपार्जितधनेन पुत्रः सुखमनुभवति। पित्रा सम्पादिते सद्मनि तिष्ठति। पित्रारोपितस्यारामादेरपि पुत्रः सुखमाप्नोति। तथैक उपार्जयति बहवश्च पुत्रकलत्रादयो भृत्या भुञ्जते। एवंभूतानि सहस्रमुदाहरणानि प्राप्स्यन्ति। यत्रान्यकृतस्य कर्मणोऽन्यः फलं भुङ्क्ते ॥

अत्रोच्यते—अन्यकृतस्य कर्मणोऽन्यः फलं भुङ्क्तेइत्येतत्कथनं नैव सम्भवति। यथा यः कुपथ्यम्भुङ्क्ते तस्यैवोदरे पीड़ा जायते नान्यस्य। यो भुङ्क्ते तस्यैव क्षुन्निवर्त्तते नान्यस्य। यथा भृत्यो भार्य्या वा पाचयति तस्य स्वामी फलमोदनादिकं भुङ्क्ते। अत्रापि सर्वत्र प्राधान्येन कर्त्तैव फलं लभते तथाचोक्तम्-महाभारते—

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥

तथा मनुस्मृतावपीदमेव तात्पर्यं चतुर्थाध्याय उक्तम्—

एकः प्रजायते जन्तुरेकएव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकएव च दुष्कृतम् ॥

एवंभूतैरनेकैः प्रमाणैरिदं सिध्यति—यदिहोपार्जितस्य पापस्य पुण्यस्य वा कर्त्तैव जन्मान्तरे सुखं लभते । कथंचिद्वर्त्तमाने प्रत्यक्षदशायामेककृतस्येतरः फलं भुङ्क्ताम् । नैतावता पुत्रकृतश्राद्धस्य फलं पिताऽवाप्तुमर्हति । इदमत्र तात्पर्यम्—यत्रयत्रान्यकृतस्य कर्मणोऽन्यः फलं भुङ्क्तइति कथमपि व्यवहर्त्तुं शक्यते तत्रतत्र सुखदुःखयोः साधनमारामधनादिकं भोक्तुः प्रत्यक्षमेव भवति । यत्र च सुखस्य दुःखस्य च साधनं प्रत्यक्षं नास्ति तत्र फलस्य भवनमप्यसम्भवम् । यथाऽसति जले पिपासा न निवर्त्तते रोगेवाऽसति रोगोद्भवं दुःखं नैवोत्पत्तुमर्हति । एवं पुत्रकृतं सुखसाधनमिहास्ति तज्जन्यं सुखफलं मृताः परोक्षाः पितरः प्राप्नुयुरित्यसम्भवम् । यद्युच्येत कृतेन शुभाशुभकर्मणा धर्मः सञ्चीयते पुरुषेण सएव जन्मान्तरे कर्त्रे फलं प्रयच्छति । यदि साधनमन्तरेण फलं न स्यात्तदा स्वकृतस्य कर्मणोऽपि जन्मान्तरे फलं कोऽपि नाप्नुयात् । इतिचेन्न संचितं कर्म वासनारूपं तच्च कर्त्तुरेवान्तःकरणे संस्कृतं तत्रैव वासनारूपेण तिष्ठति । तमेव च कर्त्तारं तत्कर्म वर्त्तमाने जन्मनि जन्मान्तरे वा फलं प्रयच्छति । यथा नान्यकृतमन्यः स्मरति । यथा—केनचिदज्ञानवशात् कस्यचिदुपकारिणो मित्रस्य पुत्रादेर्वा घातः कृतस्तस्य यदा यदोद्बोधकनिमित्तेन स्मरणमायाति तदातदा हन्तैव मानसदुःखेनानुतप्यते

नह्यन्यः कश्चिद्व्रातकोऽन्यकृतेन कर्मणानुतपेदिति कथमपि सम्भवति । एवमेतेन सिद्धं स्वकृतस्य कर्मणः स्वयमेव जन्मान्तरे फलं भुङ्क्ते। वर्त्तमानदशायां त्वन्यकृतस्यान्योऽपि किमपि फलं प्राप्नोति ॥

अनेन सिद्धमिह कृतस्य पिण्डदानादेः फलं नामुत्र पितरः प्राप्नुवन्ति। यदि प्राप्नुयुस्तर्हि सर्वे सुखिनएव स्युः । नैव कोऽपि दुःखी स्यात् । अस्मिन्पौराणिकपक्षेऽनेके विकल्पा उत्पद्यन्ते । किं ये जना म्रियन्ते ते पुनः पृथिव्यां मनुष्यादियोनिं नाप्नुवन्ति? यदि नाप्नुवन्ति तर्हि क्व गच्छन्ति। यदि मनुष्यादियोनिमाप्नुवन्ति तर्हि श्राद्ध आह्वानावसरे कथमायान्ति ?। नोचेत् मृत्वा क्व गच्छन्ति । यदि पितृलोकं गच्छन्ति तर्हि स क्वास्ति पितृलोकः किं स पितॄणामेव लोकोऽस्ति ?। पुत्रास्तदा क्व गच्छन्ति ?। पुत्राअपि तत्र गच्छन्ति चेत्पुत्रलोको भ्रातृलोको वा किमर्थं नोच्यते। यदि सर्वे मृत्वाऽन्यलोकेष्वेव जायन्ते तर्हि पृथिव्यां नूतना जीवात्मानः कुतआगत्योत्पद्यन्ते ?। यदि घटादिवज्जीवात्मानो नोत्पद्यन्ते तदाऽसंख्यानामपि पुनरनिवर्त्तिनामभावः सम्भवति । यद्युत्पद्यन्ते तर्हि प्रथमं निष्कारणं जन्म किमर्थं जातम्। एवंसति धर्मशास्त्रवचांसि च व्याहन्येरन्। देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं तु राजसाः । तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ अनेन सिद्धम्—यद्रजोगुणप्रधानाः पुरुषा मृत्वा पुनरपि मनुष्ययोनिमेवाप्नुवन्ति । एतत्प्रमाणानुकूलं येषां पितरो मनुष्यत्वमाप्ता तैर्यदा श्राद्धं तर्पणं च क्रियते तदा तत्फलेन तेषां जन्मान्तरेऽन्यशरीरधारिणां पितॄणां क्षुत्पिपासयोर्निवृत्तिः किमर्थं न जायते?। एवंभूताः सहस्रशः प्रश्ना मृतानां श्राद्धदानरूपे पौराणिकपक्षे सम्भन्ति येषां समाधानमसम्भव-

मेवास्ति । अस्मत्पक्षे च तेषां समाधानमेवास्त्यर्थात्प्रश्नाएव नोत्पद्यन्ते । जीवत्पितृश्राद्धिनां मते सात्त्विकानां ज्ञाननिष्ठानां लोकः पितृलोकः । यस्मिन् प्रदेशे देशे वा मानसपुण्यकर्मप्रधानाः प्रायशो निवसन्ति स पितृलोकस्तेषां समुदायस्तत्र ते मृत्वा गच्छन्ति पुनरुत्पद्यन्ते येषां शास्त्रेषु पितृलोके गमनं श्रूयते । एवं वाचिकपुण्यगुणप्रधानेषु देवेषु देवानुगा देवा उत्पद्यन्ते । एवं सर्वत्र योज्यम् । एवमत्र संक्षेपेण श्राद्धतर्पणयोर्विवेचनं कृतमग्रे तृतीयाध्यायस्थपद्यानां प्रक्षिप्तसमीक्षणं करिष्यते ॥

भाषार्थः—इस से पूर्व जो श्राद्ध के विषय में कह चुके हैं उस से यह सिद्ध होगया कि मानवधर्मशास्त्र का सिद्धान्त जीते हुए ज्ञानी पुरुषों का श्रद्धापूर्वक भोजनादि से सत्काररूप श्राद्ध करना है । और मरों के श्राद्ध की कल्पना करना धर्मशास्त्र के सिद्धान्त से विरुद्ध है इस के प्रमाण भी पूर्व दिये हैं । इस विषय में कोई लोग कहते हैं कि श्राद्धरूप मृतकों को पिण्डदान देने से ही दायभाग ठीक बनता है । क्योंकि धर्मशास्त्र के अनुसार जो जिस मृतकपितादि को पिण्ड देने का अधिकारी नियत किया गया हो वा जिस का दिया पिण्ड मृतक को पहुंच सकता है वही उस मृतक के धनादि का भागी हो सकता है इस का विवेचन आगे दायभाग के प्रकरण में किया जायगा ॥

कोई लोग इस श्राद्ध विषय में यह भी कहते हैं कि जगत् में अन्य के किये कर्म के फल को अन्य भोगता है वा नहीं ? जो कहो कि अन्य फल भोगता है तो पुत्र के किये श्राद्ध का फल पिता को क्यों नहीं प्राप्त होता ? यदि कहो कि नहीं भोगता तो यह प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है । जैसे पिता के उपार्जन किये धन से पुत्र सुख का अनुभव करता पिता के बनाये घर में पुत्र रहता और पिता के लगाये वाटिका आदि से पुत्र सुख पाता है । तथा एक कमाता और अनेक पोषण योग्य स्त्री पुत्रादि सुख भोगते हैं । इस प्रकार के सहस्रों उदाहरण मिलेंगे जिन में अन्य के किये कर्म का अन्य फल भोगता है ॥

अब इस का कुछ समाधान दिखाते हैं । अन्य के किये कर्म का फल अन्य भोगता है यह कहना नहीं बन सकता । जैसे जो पुरुष कुपथ्य भोजन करता है

उसी के पेट में पीड़ा होती है अन्य के में नहीं। जो खाता है उसी की भूंख मिटती है अन्य की नहीं इत्यादि। तथा जैसे पाचक वा स्त्री भोजन बनाती और भात आदि फल स्वामी भोगता है यहां प्रत्यक्ष में यद्यपि अन्य के किये कर्म का अन्य को फल पहुंचता जान पड़ता है तथापि उस पुरुष के सामयिक वा पूर्व के कर्म भी ऐसे हैं जिन के अनुसार उस को पाचक वा स्त्री का भोजन मिले यह भी उसी के कर्म का फल हुआ। और भार्य्या पुत्रादि का भोजन कर्म यदि स्वामी की प्रसन्नता के लिये है तो उस की तृप्ति सन्तुष्टि में उन को फल-प्राप्ति कही जा सकती है। इस कारण यहां भी कर्त्ता ही फल भोगता है। सो यह महाभारत में भी कहा गया है—"एक ही मनुष्य पाप करता है और वही फल भोगता है अर्थात् सब अपने २ किये शुभ अशुभ कर्म के उत्तरदाता हैं कोई किसी के करने भोगने में साथी नहीं हो सकता तात्पर्य यह कि स्त्री पुत्रादि के पालन पोषण के लिये जो पुरुष अधर्म अन्याय छल कपटादि द्वारा भोजन वस्त्रादि वा धन को उत्पन्न करता है वही कर्त्ता अपराधी वा पापी है और स्त्री पुत्रादि भोगने वाले छूट जाते हैं।" तथा यही तात्पर्य मनुस्मृति के चतुर्थाध्याय में भी कहा है—"एक मनुष्य उत्पन्न होता वा एक ही मरता है। तथा एक ही पाप पुण्य का फल भोगता है अर्थात् कोई किसी का साथी वा सहायक नहीं हो सकता कि भुगवा लेवे" इस प्रकार के अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि इस जन्म में संचित किये पाप वा पुण्य का कर्त्ता ही जन्मान्तर में सुख वा दुःख को प्राप्त होता है। किसी प्रकार दोनों के वर्त्तमान समय-प्रत्यक्ष दशा में एक के किये कर्म का फल दूसरा भोगे वा सञ्चयकर्त्ता के न रहने पर उस के सञ्चित भोग साधनों की विद्यमानता में उस के निकटवर्त्ती पुत्रादि सुख दुःख भोगें। परन्तु इतने से पुत्र के किये श्राद्ध का फल पिता नहीं पा सकता क्योंकि उक्त दृष्टान्त इस कथन से ठीक सम्बन्ध नहीं रखते किन्तु यदि ऐसा कोई दृष्टान्त मिले कि जो पुरुष मर गये उन को किसी ने अब तक सुख दुःखादि यहां के किये कर्म से पहुंचाया हो और इस का कोई प्रत्यक्ष दृष्टान्त मिल सके तो इस प्रसङ्ग में लग सकता है। अर्थात् इस कथन का यहां तात्पर्य यह है कि जहां २ अन्य के किये कर्म का फल अन्य भोगता है ऐसा व्यवहार किसी प्रकार कर सकते हैं वहां २ सुख दुःख का साधन वाग वा धनादि भोगने वाले के प्रत्यक्ष ही होता है। और जहां सुख वा दुःख का साधन प्रत्यक्ष नहीं है वहां फल का होना भी असम्भव

है। जैसे विना जल के प्राप्त हुए जल से दूर होने वाली प्यास निवृत्त नहीं होती अथवा विना रोग हुए रोग से होने वाला दुःख भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार पुत्र का किया सुख का साधन यहां है उस से होने वाले सुखरूप फल को मरे हुए परोक्ष पितृ लोग प्राप्त हों यह असम्भव है। क्योंकि जहां दीपक होगा वहीं प्रकाश होगा। और पिता जो धनादि पदार्थ छोड़ जाता है वे पदार्थ सुख वा दुःख भोगने वाले के पास रहते हैं इस कारण पिता के किये का फल पीछे पुत्र भोग सकता है और पुत्र का किया जन्मान्तर में पिता को नहीं पहुंच सकता क्योंकि वे सब पदार्थ यहां हैं। जैसे अन्य के भोजन कर लेने से अन्य की क्षुधा निवृत्त नहीं होती वैसे यहां किन्हीं ब्राह्मणों के खवादेने से मरे पितृयों की क्षुधा नहीं दूर हो सकती। यदि कोई कहे कि किये हुये कर्म से धर्म अधर्म का संचय होता है और वह जन्मान्तर में भी जीवात्मा के साथ जाकर फल देता है वहां साधन कोई नहीं जाते धनादि सब यहीं पड़े रहते हैं और संचित धर्म अधर्म का जीवात्मा के साथ जाना जन्मान्तर में न माना जावे तो नास्तिकपन आता है। सो जैसे जन्मान्तर में कर्त्ता को धर्म अधर्म का फल पहुंचता है वैसे ही पुत्रादि के किये का पिता को पहुंचना चाहिये। इस का उत्तर यह है कि संचितकर्म वासनारूप होता है वह कर्त्ता के अन्तःकरण से संबन्ध रखता वहीं वासनारूप से ठहरता है और उसी कर्त्ता को वर्त्तमान जन्म वा जन्मान्तर में फल देता है। जैसे अन्य के किये का अन्य को स्मरण नहीं आता। जैसे किसी ने अज्ञान से किसी उपकारी मित्र वा पुत्रादि का वध किया हो उस को जब २ स्मारक निमित्त के मिल जाने से स्मरण आजाता है तब २ मानस दुःखरूप अग्नि भीतर ही भीतर शरीर को जलाता है। तथा अन्य कोई घातक अन्य के किये काम से दुःखित हो यह किसी प्रकार सम्भव नहीं। इस प्रकार इस उक्त कथन से सिद्ध हो गया कि अपने किये कर्म का आप ही जन्मान्तर में फल भोगता है। वर्त्तमानदशा में तो अन्य के किये कर्म के फल को अन्य भी कोई पाता है॥

अब इसी उक्त कथन से सिद्ध हो गया कि यहां किये पिण्ड दानादि का फल जन्मान्तर में पितर नहीं पाते। यदि पावें तो सब सुखी ही रहें दुःखी कोई न हो। क्योंकि संसार में जितने मनुष्य उत्पन्न हुए हैं उन सब के श्राद्ध तर्पण करने वाले तो हों गे ही। तो सब को भूख प्यास निवृत्तिरूप फल पहुंचना चाहिये। पर ऐसा नहीं दीखता। इस पौराणिकपक्ष में अनेक विकल्प वा

शङ्का उत्पन्न होती हैं—कि जो मनुष्य मरते हैं वे क्या पृथिवी पर मनुष्यादि योनि में नहीं आते? यदि उन को मनुष्यादि योनि इस पृथिवी पर नहीं मिलती तो कहां जाते हैं? और जो पृथिवी पर आ कर मनुष्यादि योनि को प्राप्त होते हैं तो श्राद्ध में बुलाते समय कैसे आते हैं?। अर्थात् उस२ योनिस्थ शरीरों सहित श्राद्ध में आवें तो सब को क्यों नहीं दीख पड़ते?। तथा लोक में ऐसा कहीं नहीं दीखता कि कोई किसी के यहां पूर्वजन्म के सम्बन्ध से श्राद्ध में मन्त्रद्वारा बुलाने पर जाता हो। और शरीर छोड़ कर जीवमात्र श्राद्ध में जावे तो उतने काल तक उन के शरीर मरे पड़े रहें यह भी नहीं दीखता अर्थात् यह सब प्रत्यक्ष प्रमाण से ही विरुद्ध है। और जो मरे हुए प्राणी पृथिवी पर जन्म नहीं लेते तो मर कर कहां जाते हैं?। यदि पितृलोक में जाते हैं तो वह पितृलोक कहां है? क्या वह पितृयों का ही लोक वा स्थान है? तो पुत्र मर कर कहां जाते हैं? यदि पुत्र भी वहां जाते हैं तो पुत्रलोक वा भ्रातृलोक क्यों नहीं माना जाता?। तथा मर कर यदि सभी प्राणी अन्य लोकों में उत्पन्न होते हैं तो पृथिवी पर नये२ जीवात्मा कहां से आकर जन्म लेते हैं? यदि घट आदि अनित्य वस्तुओं के तुल्य जीवात्मा नहीं बनते वा बनाये जाते तो असंख्य मानने पर भी फिर लौट कर न आने से अभाव हो जाना सम्भव है। अर्थात् कोई वस्तु कितना ही अधिक असंख्य क्यों न हो उस में से व्ययमात्र होता रहे और नवीन सञ्चित न किया जाय तो कभी न कभी सब का निपट जाना सम्भव है। और जीवात्माओं की नवीन उत्पत्ति मानी जावे तो पहिला जन्म निष्कारण क्यों हुआ? (अर्थात् ऐसा मानने वाले के मत में कृतहानि और अकृताभ्यागमदोष भी अवश्य आवेगा क्योंकि जन्म होते समय जो जीवात्मा की उत्पत्ति शरीर के तुल्य मानी जावे तो मरते समय शरीर के तुल्य नाश होना भी सम्भव है। इस दशा में जब कोई मनुष्य ऐसे शुभकर्म करता२ मर गया कि जिन को मरते समय तक पूरा किया और फलभोग का समय आते ही मर गया जैसे भोजन बना कर ठीक कर चुका खाने से पहिले मर गया वा बड़े परिश्रम से वाटिका तैयार की और फल लगने का समय आया तभी वह मर गया इत्यादि। ऐसी दशा में आगे जन्म होने वाला नहीं जिस में अन्त तक किये पाप वा पुण्य का फलभोग मिलेगा फिर अच्छे कर्म करने की प्रशंसा और बुरे काम की निन्दा दोनों नहीं बन सकती। यह कृतहानि दोष है। और जो नया जीवात्मा शरीर के साथ उत्पन्न हुआ उस को

विशेष सुख वा दुःख क्यों मिला ? क्योंकि उस ने तो पहिले अच्छा वा बुरा कोई कर्म किया ही नहीं। यह अन्याय वा विरुद्ध है कि जिस ने अच्छा वा बुरा कर्म नहीं किया उस को सुख वा दुःख विशेष मिल जाना । यही अकृताभ्यागम दोष है कि नहीं किये की प्राप्ति और किये का फल न मिलना कृतहानि दोष है) और ऐसा होने पर धर्मशास्त्रों के वचन भी खण्डित होंगे " सत्त्वगुणी लोग देवता होते, रजोगुणी मनुष्य और तमोगुणी पशु आदि कीटपतङ्गादि योनियों में जन्म लेते हैं" । इस कथन से ठीक सिद्ध है कि मरते समय जीवात्मा रहता है किन्तु शरीर के तुल्य नष्ट नहीं हो जाता और वही कर्मानुकूल जन्मान्तर धारण करता है इस से नवीन भी उत्पन्न नहीं होते । यदि इस को ठीक मानें तो वह खण्डित है और उस के मानने पर इस पक्ष का खण्डन होता है । इस से सिद्ध हो गया कि प्रायः रजोगुणी सर्वसाधारण मनुष्य पृथिवी पर बार २ मनुष्ययोनि को पाते हैं । इसी प्रमाण के अनुकूल जिन के पितर मनुष्ययोनि में आ गये वे लोग जब श्राद्ध तर्पण करते हैं तब उस श्राद्ध तर्पण के फल से जन्मान्तर में अन्य शरीरधारण करने वाले पितृयों की भूख प्यास क्यों नहीं निवृत्त हो जाती ? यदि होती है तो सभी मनुष्यों के पूर्वजन्म में कोई न कोई पुत्रादि रहते ही हैं और प्रायः मरों का श्राद्ध किया ही जाता है तो उन को श्राद्ध के प्रायः दिनों में सभी को भूख प्यास न लगनी चाहिये । पर ऐसा नहीं दीखता । इस प्रकार के सहस्रों प्रश्न मरों को श्राद्ध देनेरूप पौराणिक पक्ष में हो सकते हैं जिन का समाधान असम्भव है । और हमारे पक्ष में तो उन का समाधान ही है क्योंकि ऐसे प्रश्न ही नहीं उठते । और जीवित चेतन पितृयों का श्राद्ध करने वालों के मत में ज्ञाननिष्ठ सत्त्वगुणी पुरुषों का जो लोक—नाम स्थान है वही पितृलोक जानो । जिस प्रदेश वा देश में मानस कर्म में प्रधान विचारशील ज्ञानी लोग निवास करते हैं वह पितृलोक है वा उन पितृयों के समुदाय-मेल का नाम पितृलोक है । जिन के लिये मरने के पश्चात् शास्त्रों में पितृलोक में जाना सुनते हैं वे पुरुष शरीर छोड़ने पश्चात् वैसे पूर्वोक्त पितृजनों के समुदाय वा प्रदेश में अर्थात् पितृयों के घरों में जा कर जन्म लेते हैं । भगवद्गीता में भी लिखा है कि:—

"अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्" ॥

"अर्थात् अधूरे योगी लोग मरणानन्तर योगि लोगों के कुल में भी जन्म लेते हैं। परन्तु यह दुर्लभ अर्थात् ऐसा जन्म होना सर्वोत्तम है कि जिस में फिर भी योगाभ्यास कर के शीघ्र अपने इष्ट कल्याण को प्राप्त हो सकते हैं कि जिस के लिये पूर्वजन्म में मरणपर्यन्त यत्न करते रहे और अन्त में यह आशा रह गयी कि यह मेरा काम पूरा सिद्ध न होने पाया काल आ गया" तथा वाणी सम्बन्धी पुण्य जिन्हों ने मुख्य कर किया है उन के समुदाय वा कुलों में वे लोग उत्पन्न होते हैं जिन के लिये मरणानन्तर शास्त्रों में देवलोक का जाना लिखा है। इसी प्रकार सर्वत्र व्यवस्था लगानी चाहिये। यहां संक्षेप से श्राद्ध तर्पण का विवेचन किया गया अब तृतीयाध्यायस्थ श्लोकों में से प्रक्षिप्त का विचार किया जायगा॥

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रक्षिप्तसमीक्षणम्॥

अस्मिन् तृतीयाध्याये यानि प्रक्षिप्तानीव कानि चित्पद्यानि भान्ति न च तानि तथा भूतानि सन्ति तेषां विशेषो भाष्ये द्रष्टव्यः। अत्र तु यानि निर्विकल्पं प्रक्षिप्तानि तेषामेवाऽवधारणं क्रियते। सप्तविंशत्युत्तरं शततमं पद्यं क्षिप्तं प्रतिभाति। यदा च जीवतामेव श्राद्धं वेदोक्तमिति सिद्धम्। पुनः श्राद्धस्य प्रेतकृत्यात्वमेव नास्ति। षड्विंशतिपद्यस्याष्टाविंशतिपद्येन सार्द्धं सम्बन्धोपि सम्यग् दृश्यते तेनापि कारणेनास्य प्रक्षिप्तत्वमनुमीयते। नहि प्रेतार्था काचित् क्रिया भवितुमर्हति शरीरस्येहैव लीनत्वात्॥

एकोनसप्तत्युत्तरशततमपद्यादारभ्य द्व्याशीत्युत्तरशततमपद्यावधि पद्यानि प्रक्षिप्तानि प्रतिभान्ति। एकसप्ततित्रिसप्ततिचतुःसप्तत्युत्तरशतानि त्रीणि पद्यानि वर्जयित्वा। यद्यप्युक्तपद्येष्वर्थवादो निन्दारूपेणोक्तस्तथापि सम्भवेन सम्बद्धेन न्याय्येन वार्थवादेन भाव्यम्। अत्र चाऽसम्भवोऽसम्बद्धोऽन्याय्यश्चार्थवादोऽस्तीत्यवगम्यते। यथा सोमविक्रयिणे दत्तमन्नं विष्ठा भवति। किमत्र प्रसज्यतेऽर्थापत्त्या

यद्विदुषे दत्तमन्नं विष्ठात्वं नाप्नुयात् । तत्तु न दृश्यते किन्तु प्रशस्ते-नाऽप्रशस्तेन वा येन केनापि भुक्तमन्नं विष्ठा भवत्येव । तथाऽन्नमेव-रसादिद्वारा रक्तमांसादित्वमापद्यते । पुनरेतत्कथनमसम्भवमसम्ब-द्धं चास्ति । तथा च परिवेत्रा दोषभाजा भाव्यं येनाग्रजे स्थिते दारा-ग्निहोत्रसंयोगः स्वयमेव पूर्वं कृतः । तेन साकं परिवित्तिना परिवेत्तु-र्भार्यया च किमर्थं दोषभाग्भ्यां भाव्यम् ? । यदि भवति तदाऽन्याय्य-मेतत् । यथा स्तेनो येन स्तेयं कर्म कृतं यस्य च धनादेः स्तेयं कृतमु-भावप्यन्याय्ये राजद्वारि दण्ड्यौ भवेतामन्याय्यमेतत् । धर्मशास्त्र-वचोभिश्च पक्षपातरहितैर्भवितव्यम् । न च तथा दृश्यन्ते तस्मात्प्र-क्षिप्तान्येतानि वचांसि ॥

अग्रे सप्ताशीत्युत्तरशततमपद्यादारभ्याशीत्युत्तरद्विशततमप-द्यावधि प्रक्षिप्तानि भान्ति । द्विनवत्युत्तरशतं, षडुत्तरद्विशततमादा-रभ्य नवोत्तरद्विशततमावधिकानि, त्रयोदशोत्तरद्विशततमं, षड्विंशा-त्युत्तरद्विशततममष्टाविंशत्युत्तरद्विशततममेकत्रिंशदुत्तरद्विशततमादा-रभ्य त्रयस्त्रिंशदुत्तरद्विशततमावधिकानि त्रिचत्वारिंशदुत्तरद्विशततम-मेकपञ्चाशदुत्तरद्विशततमादारभ्य त्रयःपञ्चाशदुत्तरद्विशततमावधि-कानि, एकोनषष्ट्युत्तरद्विशततमं च पद्यं वर्जयित्वा । अत्र प्रक्षिप्त-समुदायेऽनेकानि वचांस्यसम्भवानि, कानिचित्परस्परं विरुद्धानि । वैदिकसिद्धान्तो योऽसौ मया पूर्वं प्रतिपादितस्तस्मात् सर्वाणि क्षि-प्तानि विरुद्धानि । अतएव तादृशानि पद्यानि मनीषिभिस्त्याज्यानि तानि च धर्मशास्त्रस्य तुच्छत्वमप्यापादयन्ति । यथाऋषिभ्यः पि-तृणामुत्पत्तिश्चेत्सनातनत्वं तेषामसम्भवम् । तथासति मरीच्याद्यृषि-भिः श्राद्धं तर्पणं च न कार्यम् । कार्यं चेत्पुत्राणां भविष्यति न

पितॄणाम्। अग्रे "अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्भुञ्जीरंस्तेपि वाग्यताः" इत्युक्तं तच्च चिकित्साशास्त्राद्विरुध्यते यतो मूत्रकृच्छ्रप्रमेहादयो रोगा अत्युष्णान्नभोजनात्सम्भवन्ति। तस्मात्तादृशभोजनं न केनापि कार्यं कारयितव्यं वा। यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः। सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते॥ यद्येतत्सत्यमस्ति तर्हि भुञ्जानानां विप्राणां कियताप्यन्नेन तृप्तिर्न स्यात्कुतस्ते तु भुञ्जतएव न किन्तु तन्मुखैरक्षांसि भुञ्जते। तच्च नैवं सम्भवति भुञ्जानाश्च प्रत्यक्षं तृप्तिमासन्ना दृश्यन्ते। तस्मादुक्तं कथनं सम्यङ् नास्ति। अपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान् भुञ्जानाननुपश्यति। नैतत्सम्भवति यदपाङ्क्त्यः कश्चिदपि पाङ्क्त्यं न पश्येत्। यतउदकहारादयो दासास्तत्र भवन्त्येव तेषामभावे च दास्यं कः कुर्यात्?। यदा चानेकजन्तूनां मांसैरनन्ताऽक्षया वा तृप्तिः पितॄणां प्रदर्शिता पुनर्मासिकं पाक्षिकं वार्षिकं वा श्राद्धं निष्फलं सम्पद्यते किमर्थं नैकवारमेवानन्ता तृप्तिः क्रियते?। असम्भवं चैतद्यदेकस्मिन् दिवसे भुक्तं मासावधि वर्षावधि वा न जीर्येदिति। तस्मादन्यदप्येतादृशं प्रक्षिप्तमेव मन्तव्यम्। विशेषश्च भाष्ये तथैव वक्ष्यते। इत्थमस्मिन्नध्याये षडशीत्युत्तरद्विशतपद्येषु नवतिः प्रक्षिप्तानि शिष्टानि सम्यक्सन्तीति बोध्यम्॥

अब तृतीयाध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा की जाती है—इस तृतीयाध्याय में कोई २ श्लोक प्रक्षिप्त जैसे अनेक साधारण लोगों को जान पड़ेंगे और वास्तव में वे प्रक्षिप्त नहीं हैं तो उन का समाधान यहां नहीं किया जाता किन्तु आगे भाष्य में उन के अर्थ का निर्णय होगा यहां तो केवल जो प्रक्षिप्त हैं उन्हीं का निश्चय किया जाता है। १२७ एक सौ सत्ताईशवां श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ता है। क्योंकि जब जीवित पितृयों का ही श्राद्ध करना वेदोक्त सिद्ध हो चुका तो फिर श्राद्ध का नाम प्रेतकर्म नहीं हो सकता। और छब्बीशवें श्लोक का

अट्ठाईशवें श्लोक के साथ सम्बन्ध भी ठीक मिल जाता है इस कारण से भी सत्ताईशवें का प्रक्षिप्त होना अनुमान से सिद्ध है तथा प्रेत के लिये कोई कर्म उपयोगी नहीं हो सकता क्योंकि मरा हुआ शरीर तो जलाने आदि द्वारा पृथिवी में मिल जाता तथा केवल जीवात्मा कोई सुख दुःख का भोग नहीं कर सकता तो प्रेत के लिये किसी प्रकार की क्रिया करना निष्फल है ॥

एकसौ उनहत्तरवें १६९ श्लोक से लेकर एकसौ बयाशी १८२ श्लोक तक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। परन्तु १७१। १७३। १७४ इन तीन श्लोकों को छोड़ कर। यद्यपि उक्त प्रक्षिप्त श्लोकों में निन्दारूप अर्थवाद कहा गया है तो भी अर्थवाद सम्भव, सम्बद्ध और न्याययुक्त ही होना चाहिये। और यहां असम्भव, असम्बद्ध और अन्याययुक्त अर्थवाद प्रतीत होता है। जैसे सोमविक्रयी पुरुष को दिया अन्न विष्ठा हो जाता है। इस कथन से क्या प्राप्त हुआ कि जो विद्वान् को दिया गया वह अन्न अर्थापत्ति से विष्ठाभाव को न प्राप्त होवे परन्तु अन्न ही रस आदि के द्वारा रुधिर और मांसादि भाव को प्राप्त होता है। इसी से यह पूर्वोक्त कथन असम्भव वा असम्बद्ध है। और परिवेत्ता कि जिस ने बड़े भाई के बैठे रहते विवाह किया वह दोषी होना चाहिये। उस के साथ में बड़ा भाई और उस छोटे भाई की स्त्री क्यों अपराधी समझे गये? उन्हों ने क्या अपराध किया था? अर्थात् कुछ नहीं तो उन दोनों का अपराधी बनाना अन्याय वा अधर्म अवश्य है ॥

जैसे किसी की चोरी करने वाला चोर और जिस की चोरी उस ने की हो उन दोनों को अन्यायीराजा के यहां दण्ड के योग्य मान कर दण्ड दिया जावे तो यह साक्षात् अन्याय है। और धर्मशास्त्र के वचन पक्षपात रहित होने चाहिये परन्तु वैसे नहीं दीखते इस कारण उक्त श्लोक प्रक्षिप्त अवश्य हैं कि जिन में पक्षपातादि धर्म से विरुद्ध वर्णन है ॥

आगे १८७ एकसौ सत्तासी श्लोक से लेकर २८० दोसौ अस्सी श्लोक पर्यन्त प्रक्षिप्त हैं परन्तु १९२। २०६ से लेकर २०९ तक २१३। २२६। २२८। २३१ से लेकर २३३ तक २४३। २५१ से लेके २५३ तक और २५९ श्लोकों को छोड़ कर शेष १८७ से २८० तक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। इन प्रक्षिप्त श्लोकों में अनेक वचन असम्भव हैं। कोई २ परस्पर विरुद्ध हैं। और श्राद्ध तर्पण के विषय में जो पूर्व मैंने वेद का सिद्धान्त ठीक २ दिखाया है उस से तो सभी प्रक्षिप्त श्लोक विरुद्ध हैं इसी कारण ऐसे श्लोक विचारशील विद्वानों को अप्रामाणिक पक्ष में छोड़ देने चाहिये क्योंकि

ऐसे वचनों से धर्मशास्त्र में कलङ्क लगता है । जैसे मरीच्यादि ऋषियों से पितृगणों की उत्पत्ति दिखायी है सो जो ऋषियों से उन की उत्पत्ति मानी जावे तो पितृगण अनादि वा सनातन नहीं हो सकते और ऐसा होने पर मरीच्यादि ऋषियों को तर्पण श्राद्ध नहीं करना चाहिये और करें तो पुत्रों का श्राद्ध तर्पण हुआ किन्तु पितृयों का नहीं । आगे लिखा है कि "ब्राह्मणों को अत्यन्त उष्ण भोजन कराया जावे और वे मौन होकर भोजन करें" । सो यह कथन चिकित्साशास्त्र से विरुद्ध है क्योंकि वैसा भोजन करने से मूत्रकृच्छ्र वा प्रमेहादि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं इस लिये वैसा भोजन किसी को भी न करना वा कराना चाहिये । आगे लिखा है कि "जो शिर बांध कर भोजन करता, जो दक्षिण को मुख करके तथा जो जूता पहन कर खाता है उस अन्न को राक्षस खा जाते हैं ।" यदि यह बात सत्य हो तो भोजन करने वाले ब्राह्मणों की कितने ही अन्न से तृप्ति न होनी चाहिये क्योंकि वे ब्राह्मण (जो प्रत्यक्ष में खा रहे हैं) तो खाते ही नहीं किन्तु उन के मुख से राक्षस खा जाते हैं । सो सम्भव नहीं भोजन करने वाले प्रत्यक्ष में तृप्त हुए दीख पड़ते हैं । इस कारण उक्त कथन ठीक नहीं है आगे लिखा है कि "निषिद्ध वा मूर्खादि नाममात्र का ब्राह्मण वा शूद्रादि भोजन करते हुए ब्राह्मणों को न देखे और देख लेवे तो श्राद्ध करना निष्फल है" इत्यादि कथन ठीक नहीं क्योंकि कहारादि सेवक वहां अवश्य रहते वा रहने चाहिये और वे न रहें तो सेवा ही कौन करे? तथा कहीं यजमान भोजन कराने वाला ही मूर्ख हो तो वह भी देखे गा । तथा मक्खी मच्छरादि भी उन को अवश्य देखेंगे । तो ऐसी अनेक दशा हो सकती हैं कि जिन से श्राद्ध का फल हो सकना बहुत कठिन है । और जब अनेक जीव जन्तुओं के मांस से पितृयों की अनन्त वा अक्षय तृप्ति दिखायी है तो फिर मासिक पाक्षिक वार्षिक वा नित्य श्राद्ध करना निष्फल है एक ही वार में अनन्त तृप्ति क्यों नहीं कर दी जाती जो बार २ न करने पड़े ? । अर्थात् यह बात असम्भव है कि एक दिन का खाया महीने भर वा वर्षभर तक न पचे । इस लिये अन्य भी ऐसे आशय के श्लोक प्रक्षिप्त ही मानने चाहिये । पृथक् २ विशेष विचार आगे भाष्य में किया जायगा । इस उक्त प्रकार से इस तृतीयाध्याय के सब दो सौ छयाशी २८६ श्लोकों में से ९० नब्बे श्लोक प्रक्षिप्त और शेष १९६ एक सौ छानवे श्लोक सब विचारशील महाशयों को ठीक समझने चाहिये ॥

अथ पठनपाठनविषयेऽनध्यायविचारः ।

अस्मिन् मानवधर्मशास्त्रस्य चतुर्थाध्याये पञ्चनवतिपद्यादारभ्य सप्तविंशत्युत्तरशततमपद्यावधि त्रयस्त्रिंशत्पद्येष्वनध्यायविचारः कृतोऽस्ति । यद्यपि जगतः सर्वस्मिन्कृत्येषु यथाकथञ्चित्समयविशेषेऽनध्यायेन भवितव्यम् । अर्थान्मनुष्यैश्चालितानि सर्वाणि कर्माणि कस्मिंश्चिदुत्सवादिसमयविशेषे निरुध्यन्ते तदानीं कर्मिणोऽवकाशस्था भवन्ति । बहुष्ववसरेषु तानि कर्माणि पारतन्त्र्येण त्यक्तव्यान्येव भवन्ति । यथा सूर्यस्योदयास्ते नियते तयोः कदापि निरोधो नैव लक्ष्यते तस्य सर्वज्ञः परमेश्वरो नियामकोऽस्ति । अर्थात् सर्वज्ञचालितनियमे कदापि निरोधोऽनध्यायो वा न दृश्यते । तथा मनुष्यचालितनियमेषु नैव भवितुमर्हति तेषामल्पज्ञत्वात् । मनुष्या मध्ये मध्ये श्रान्ता रुग्णा उपरता वा भवन्ति तदैव कार्यनिरोधः स्वतएव क्रियते । यथा दुर्गन्धप्रायप्रदेशे मनुष्येण चेतस उद्विग्नत्वाच्छुभकर्म नैवाचरणीयमिति धर्मशास्त्रेषु विधीयते । इदमेवाऽनध्यायस्य प्रयोजनं यत्तस्मिन् देशे काले वा क्रियमाणं कर्म सुफलं विशिष्टफलप्रदं वा न भवति तस्मात्तादृशावसरे निरोधः क्रियते तथापि सर्वकर्मणां निरोधोऽनध्यायो वाऽत्र नैव विवेच्यते किन्तु पठनपाठनविषयस्यैवानध्यायविवेचनं प्रस्तुतम् । अन्येषां च यथावसरं व्याख्यास्यामः ॥

बहुधा तु समयविशेषेऽनध्यायाः प्रदर्शितास्तत्रोष्णताधिक्येनान्यचेतसः क्षोभकेष्वेकाग्रताविघातकेषु वा विघ्नेषूपस्थितेषु वेदस्याध्ययनं न कार्यम् । तदानीं क्रियमाणं सुफलं न भवति । केषुचिद्देशेषु